छान्दोग्य उपनिषद् का विषय

पहला प्रपाठक ॥

प्रवाक-पृष्ठ

—○—

शुद्धि पत्र.

२७१ पृष्ठ पर उन्नीसवें खण्ड का यह संस्कृत पाठ पढ़ना चाहिये-
यदा वै श्रद्दधात्यथमनुते, नाश्रद्दधन्मनुते, श्रद्दधदेवमनुते । श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

२३ पृष्ठ पर संस्कृत के नीचे जो पाठ है, वह नोट का पाठ है। पृष्ठ १७७ के आगे १८० और १७९ के आगे १५८ हैं। यह दो अंक अशुद्ध छपे हैं। पाठ ठीक है. १८० की जगह १७८ और १५८ की जगह १८० ठीक करलेवें ॥

३१२ के पीछे सूचीपत्र के आठ अंक भी अशुद्ध छपे हैं. वहां ३०१ आदि की जगह ३१३ आदि जानना चाहिये ॥



छान्दोग्य उपनिषद् ।

छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद से सम्बन्ध रखता है । यह उप-निषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का एक बहुत बड़ा भाग है, जिसके दो अध्याय और है, जो गृह्यविधि के सम्बन्ध में हैं । यह ब्राह्मण या तो इसी साधारण नाम से बोला जाता है, कि छन्दोगों का अर्थात् सामवेदियों का ब्राह्मण, या इसमें बहुत बड़ा भाग उपपिद् का है, इस लिये उपनिषद् ब्राह्मण कहते हैं ।

इस उपनिषद् के आठ प्रपाठक [वा अध्याय] और १५४ खण्ड हैं । प्रत्येक खण्ड के फिर छोटे २ अनेक खण्ड किये गए हैं, उनको प्रवाक कहते हैं । और वह प्रत्येक खण्ड में १, २, इत्यादि अंक लगाकर प्रगट किये गए हैं ।

बृहदारण्यक की नाईं छान्दोग्य में भी उपनिषद् के सारे वि-षय बड़े विस्तार के साथ पाए जाते हैं । इस उपनिषद् में इस वि-षय को बड़े जोर के साथ बतलाया गया है, कि मनुष्य के सकल्प में कितना बल है । एक दृढसंकल्प पुरुष क्या कुछ अद्भुत काम कर सक्ता है, यह इस में जगह २ प्रगट किया गया है । हमें यह [३। १६ में] सिखलाया गया है, कि यदि तुम्हारे संकल्प इस तरह [जिस तरह वहा शिक्षा दी है] पवित्र और दृढ रहेंगे, तो कोई भी रोग तुम्हें नहीं दबा सकेगा और तुम सारे रोगों को जीतकर ११६ वर्ष का आयु लाभ करोगे । इसी तरह और बहुतसी उपयोगी

और अद्भुत शिक्षाएं इसमें दीगई हैं। सार यह है, कि मनुष्य इस ब्रह्माण्ड में एक दुर्बल वस्तु नहीं, वह एक बड़ी प्रबल और अद्भुत शक्ति है। उसको अपने ऊपर भरोसा नहीं, यही एक कारण है, कि वह दुर्बल बना हुआ है। जब उसे अपने ऊपर भरोसा होजाता है, तो फिर उसके लिये कोई रुकावट नहीं रहती। जैसा उसके अपने अन्दर पलटा आजाता है, वैसा ही वह अपने बाहर पलटा दे सक्ता है। पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय इस उपनिषद् से सिखलाया गया है। और यह बहुत कुछ यज्ञों के रहस्यार्थ खोलने में प्रगट किया गया है।

इस उपनिषद् में, और ऐसा ही दूसरी उपनिषदों में भी, कई एक ऐसी उपासनाएं पाई जाती हैं, जिनकी साधना करने वालों का सम्प्रदाय अब नहीं रहा है, जिन में यह परम्परा से चली आती थीं। इसी लिये ऐसी जगह पर सिवाय अक्षरार्थ कह देने के और कुछ नहीं बन पड़ता। हां यह पूरी आशा है, कि ज्यों २ प्राचीन शास्त्रों में खोज की जाएगी, धीरे २ सब कुछ खुलजाएगा। जो कुछ अब हम समझते हैं, वह भी इतना पर्याप्त है, कि हम उसी से अपने जीवन को सर्वाङ्ग परिपूर्ण बना सक्ते हैं॥

पहला प्रपाठक—पहलाखण्ड

ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति। तस्योपव्याख्यानम्। १।

(पुरुष को) चाहिये कि ओम् * इस अक्षर की उपासना

---

* ओम के वर्णन में देखो—कठ० उप० २। १५–१७; प्रश्न० उप० प्रश्न ५; मुण्ड० उप० २। २। ३–६; तैत्ति० १। ४। ४. १। ८. बृ० आर० उप० १। १। ५; ॥

करे, जो उद्गीथ कहलाता है; क्योंकि उद्गीथ ओम् से आरम्भ होता है-*

उस (ओम्) का पूर्ण व्याख्यान यह है— । १ ।

उद्गीथ सामवेद का एक भाग है, जो ओम से आरम्भ होता है। उद्गाता इसको सोमयज्ञों में गाता है। सोमयज्ञ सात हैं-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। यही सात सोमयज्ञ की सप्त संस्था कहलाती हैं।

इन यज्ञों में सोलह २ ऋत्विज् होते हैं, जिनमें चार सामवेदी होते हैं। उनमें उद्गाता मुख्य है; और दूसरे तीन (प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य) उसके सहायक हैं। उद्गाता इन यज्ञों में साम के उद्गीथ भाग को गाता है। यह उद्गीथ ओम से आरम्भ होता है, जिस को उद्गाता पहले एक लम्बे और ऊंचे स्वर में गान करता है, और फिर शेष उद्गीथ को गाता है। यह उद्गीथ के आरम्भ का अक्षर सामवेदियों का परम आदरणीय अक्षर है। मानो, यह उद्गीथ के सारे उपदेश का निचोड़ है। अतएव सामवेदियों में केवल ओम् अक्षर भी उद्गीथ ही कहाजाता है, इस का अधिक प्रयुक्त नाम प्रणव है। इस तरह सारे सामवेद का सार ओम् है। यह सामवेदीय उपनिषद् इसी ओम पर ध्यान करने का उपदेश देती हुई आरम्भ होती है। उपनिषद् का उद्देश्य ओम् के बहुत से अर्थ बतलाने में है, जो उपासक के हृदय में जमजाने चाहियें, और अन्ततः उपासक को ओम के सब से ऊंचे अर्थ अर्थात् ब्रह्म जो इस सारे विश्वका आधार है, उस पर पहुंचा देना है। वस्तुतः ओम सारे वेदों का सार है, जैसा कि इसी प्रकरण में

* अक्षरार्थ—क्योंकि ओम यह कह कर उद्गान करता है (उद्गीथ गाता है)॥

आगे प्रगट होगा। इसी लिये हरएक वेद और वैदिक कर्म इसी से आरम्भ होता है। और स्वाध्याय के आदि और अन्त में इसका प्रयोग किया जाता है, इस अभिप्राय से कि इन सब पुण्यकर्मों का परमलक्ष्य ओम् * है। उपासक को चाहिये, कि जब वह ओम् का उच्चारण करे, तो ओम् की यह महिमा उसके ज्ञान में हो, जो यहां सविस्तर वर्णन की जाएगी। फिर वह अपने लिये वा उद्गाता बनकर यजमान के लिये जो मांगेगा, निःसन्देह पाएगा ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः, अपामोषधयो रस, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग्रसो, वाच ऋग्रस, ऋचः साम रसः, साम्नउद्गीथो रसः ।२। स एष रसाना ९ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः । ३ ।

इन सारे भूतों का रस † पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है,

---

* तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रिया । प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ता सतत ब्रह्मवादिनाम् (गीता० १७ । २४) इसलिये वैदिक लोग पहले ओम् का उच्चारण करके तब यज्ञ दान और तप इत्यादि वेदोक्त कर्मों को आरम्भ करते है ॥

† रस यहां भिन्न २ अभिप्राय को बोधन करता है, आश्रय, कारण और सार। रस जिससे पौदे बढते हैं, वह उनका आश्रय हैं, उनकी कान्ति और जीवन का हेतु है। इस अभिप्राय को लेकर रस शब्द आश्रय वा कारण के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। रस जब पौदों से निचोड लिया जाता है, तो वह उनका सार कहलाता है, इस आशय से रस शब्द सार के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। यहां यह शब्द दोनों अभिप्रायों मे प्रयोग किया गया है। पृथिवी सब भूतों का आश्रय है, पानी पृथिवी पर फैल हुए हैं, जो इसकी कान्ति और जीवन का हेतु हैं। पौदे पानियों से उत्पन्न होते है। मनुष्य पौदों के

जल का रस ओषधियें है, ओषधियों का रस मनुष्य है, मनुष्य का रस वाणी है, वाणी का रस ऋचा (ऋग्वेद) है, ऋचा का रस साम (वेद) है, साम का रस उद्गीथ है (जो ओम् है)। २।

सो यह जो (रसों के सिलसिले में) आठवां (रस) उद्गीथ (ओम्) है, यह सारे रसों में सबसे उत्तम, सबसे ऊंचा, सबसे ऊंचे स्थान (दर्जे) के योग्य है। ३।

कतमा कतमर्क्, कतमत् कतमत् साम, कतमः कतम उद्गीथ, इति विमृष्टं भवति। ४।

वागेवर्क्, प्राणः साम, ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद् वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च। ५।

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे स ꣳ सृज्यते। यदा वै मिथुनौ समागच्छतः, आपयतो वै तावन्योऽन्यस्य कामम्। ६।

आपयिता हवै कामानां भवति, य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते। ७।

आश्रय जीता है। वाणी मनुष्य का सार (सब से उत्तम भाग) है। ऋग्वेद वाणी का सार है। सामवेद ऋचाओं से खींचा हुआ रस है। उद्गीथ (ओम् अक्षर) साम का रस है। यह साम के मधुर स्वर से गाया जाता है और सारे वेदों का परम लक्ष्य जो परब्रह्म है, उसका प्यारा नाम है। सारी बाह्य सृष्टि का निचोड मनुष्य है। उसका निचोड वाणी और उस का परम रस ओम है॥

* तब ऋचा क्या है? साम क्या है? उद्गीथ क्या है? यह विचार है (प्रश्न है)। ४।

ऋचा वाणी ही है, साम प्राण है, उद्गीथ ओम् अक्षर है †। अब यह जो वाणी और प्राण है, या ऋचा और साम है, यह एक जोड़ा (मिथुन) है। ५।

और यह जोड़ा ओम् इस अक्षर में मेल रखता है ‡। जब दो मेली इकट्ठे मिलते हैं, वह एक दूसरे की कामना को पूरा करते हैं। ६।

इस प्रकार वह जो यह जानता हुआ, उद्गीथ (ओम्) अक्षर को उपासता है (ओम् पर ध्यान धरता है), वह (उद्गाता, यजमान की) कामनाओं का पूरा करने वाला बन जाता है। ७।

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं, यद्धि किञ्चानुजानाति, ओमित्येव तदाह। एषो एव समृद्धिः, यदनुज्ञा। समर्धयिता ह वै कामानां भवति, य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते। ८।

---

* उद्गीथ इस सृष्टि में रसों का रस है, इस बात के बतलाने के लिये जो पूर्व रस गिनाए हैं, उनमें जो ऋचा, साम और उद्गीथ हैं, यह क्या हैं, इस बात का अब यहां विचार करते हैं। यहां 'कतमा' इत्यादि दो २ बार आदर के लिये कहा गया है।

† वाणी ऋचाओं का चश्मा है और प्राण साम का, क्योंकि वाणी ही ऋचा का रूप धारण करती है, और प्राण साम (स्वर) का, इस लिये ऋचा अपने असली रूप में वाणी ही है और साम प्राण है।

‡ ओम् में वाणी और प्राण का जोड़ा इस तरह मिला हुआ है, कि ओम् स्वयं एक वाणी है और सारी वाणी का सार है। वाणी की उत्पत्ति का मुख में सब से पहला स्थान कण्ठ है और सब से अन्तिम होंठ। ओम्, अ+उ+म्, है। इनमें से अ कण्ठ में उच्चारण

८. यह [अक्षर] एक अनुज्ञा का अक्षर है, क्योंकि जिस किसी [वस्तु] की [पुरुष] अनुज्ञा देता है, वह यही कहता है ओम् * हां। अब यह जो अनुज्ञा है यह एक समृद्धि † है। वह जो इस प्रकार

होता है, और मुह के खुला रखने से उच्चारण होता है, उ सारे मुख को वायु से पूर्ण करता हुआ और होंठों को सकुचित करता हुआ उच्चरित होता है, उसके पीछे म् उचरित होते समय होंठों को बिल्कुल बंद कर देता है। अर्थात् ओम् वाणी के सारे स्थानों को व्याप कर उच्चरित होता है, अतएव यह वाणी के सारे स्थानों में व्यापने वाला अव्यय सर्वव्यापक अव्यय परमात्मा का नाम होने के अधिक योग्य है। और जब यह ऊंचे स्वर से उच्चारण किया जाता है, तो प्राण और वाणी दोनों का इस में मेल होजाता है, क्योंकि स्वर प्राण का रूप है। बस प्राण और वाणी ही मनुष्य का उत्तम जीवन हैं और उसकी सारी कामनाओं के साधक हैं। जब यह जोड़ा ओम् में मिलता है, तो अपनी इस शक्ति को ओम् में स्थापन करता है। वह उद्गाता जो उद्गीथ के आरम्भ में ओम् की इस शक्ति पर ध्यान करता हुआ ओम् का उच्चारण करता है, वह यजमान की सारी कामनाओं को पूरा करता है 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'

* देखो, बृह० आर० उप० ३।९।१, ६।२।१

† समृद्धि, भाषा में हमें कोई ऐसा शब्द नहीं मिला, जो इसके विशाल अर्थों को प्रगट कर सके, इस लिये हमने यही शब्द रहने दिया है। समृद्धि, फलना फूलना, सरसब्ज़ होना, बढ़ना, बड़ी बहुतायत से होना। समृद्धि, व्यृद्धि और संपत्ति इन तीनों शब्दों का मुकाबिले में अर्थ समझने से समृद्धि का अर्थ पूरा २ समझ में आजाएगा। जब कोई देश धन में, वाणिज्य में, विद्या में, बल में, प्रभुता में, धर्म में, इतना अमीर है, कि वह इन सारी बातों में अपना निर्भर किसी दूसरे देश पर नहीं रखता, तो वह देश सम्पन्न है और यह उसकी सम्पत्ति है। और यदि वह इतना बढ़ा हुआ है, कि वह अपनी सारी जरूरतों को पूरा करके दूसरों की जरूरतों को भी पूरा कर सका है।

यज्ञ के पारिभाषिक [इस्तलाही, Technical] शब्द हैं। यज्ञ में अध्वर्यु आग्नीध्र को 'ओम् आश्रवय' यह कहकर 'अस्तु श्रौषट्' कहने के लिये प्रेरणा करता है, यह 'आश्रवयति' से अभिप्राय है। होता जो स्तुति के शस्त्र [ऋचाओं का समुदाय] पढ़ता है, वह 'शंसति' से अभिप्राय है, और उद्गाता जो सामभन्त्र गाता है, वह उद्गायति से अभिप्राय है।

सोमयज्ञ में ये तीनों ऋत्विज् [अध्वर्यु, होता, उद्गाता] प्रायः काम में लगे रहते हैं। इन में से हर एक ऋत्विज् यज्ञ में अपना काम ओम् से आरम्भ करता है। अतएव सारा यज्ञ ओम् पर सहारा रखता है, और इस तरह पर यज्ञ से ओम् की पूजा की जाती है, जो परमात्मा का नाम है। यह इस बात का निशान है, कि सारे यज्ञों का अन्तिम फल परमात्मा का जानना है।

तेनोभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥ १ ॥

उससे [ओम् अक्षर से, यज्ञ तो] दोनों करते हैं, वह जो यह [ओम् के इस सच्चे अर्थ को] जानता है, और वह जो नहीं जानता है। पर जानने और न जानने में बड़ा भेद है। [वह यज्ञ] जिसको पुरुष विद्या से श्रद्धा से और उपनिषद् से पूरा करता है, वही अधिकशक्तिवाला होता है। यह [ओम्] अक्षर का पूरा व्याख्यान है। १०।

पहले आठ प्रवाकों में ओम् की उपासना बतलाकर नवें में यज्ञ का सारा निर्भर ओम् पर है, इस बात को दिखलाकर

और ऋत्विजों के लिये ओम् के रहस्य अर्थ का जानना आवश्यक दिखलाया है। इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है। कि वह जो ओम् अक्षर का केवल शुद्ध उच्चारण कर सक्ता है, और वह जो इसके गुह्य अर्थ को जानता है, दोनों ही उसी यज्ञ को पूरा कर सक्ते है, तो क्या आवश्यकता है, कि ऋत्विज् इस के रहस्यार्थ को जानें। और हमारा अपना अनुभव भी तो इसी बात को सिद्ध करता है, कि एक तो वहहै, जो हरीतकी [हरड] के गुणों को जानता है, और दूसरा वहहै जो नहीं जानता है, पर दोनों को उसके सेवन से एक जैसा विरेचन होता है। इसी तरह बादामरोग़न के निकालने वाले बादामों को कूटकर उन पर पानी छिडकते है। उन में से बहुत से ऐसे है, जो इस मोटे नियम [अस्नूल] को भी नहीं जानते, कि क्यो पानी छिड़कने से बादामरौगन बाहर आता है। उनसे पूछो। पानी क्यों डालते हो? वह सीधे शब्दों में इसका उत्तर देंगे, इसके बिना निकलता नही। पानी डालने से क्यो निकलता है? परमेश्वर की मर्जी, हमारी तुह्मारी मर्जी तो नही चलती। बस इसके सिवाय वह कुछ उत्तर नहीं देंगे। इतने भोले भाले तो निकालने वाले पर बादामरौगन वैसाही निकलता है, जैसा एक पूर्ण वैज्ञानिक [साइन्सवेत्ता] के हाथ से निकलसक्ता है। क्योंकि 'नहि द्रव्यशक्तिर्ज्ञानमपेक्षते'=द्रव्य की निज शक्ति किसी के ज्ञान की परवाह नहीं करती। इसी तरह यज्ञ का अनुष्ठान और ओम का उच्चारण भी अपना फल देगा, वह किसी के ज्ञान की परवाह नहीं करता। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है, कि न जानने की अपेक्षा जानना अत्युत्तम है। बेशक हीरा हीरा ही है, पर उसका जो मूल्य एक गवार लाभ करता है, जौहरी उससे कई गुना अधिक लाभ करता है। ओम के गुणों को जौहरी की तरह परखो और श्रद्धा से भरे हुए हृदय से उसका उच्चारण करो, उस

जानता हुआ इस उद्गीथ [ओम्] अक्षर को उपासता है, वह [यजमान की] कामनाओं का समृद्ध करने वाला होता है। ८।

पहले ओम् को सारी सृष्टि का निचोड़ बतलाया है। फिर सारी कामनाओं का पूरा करने वाला बतलाया है। अब यहां तीसरी महिमा उसकी यह बतलाते हैं, कि ओम् में समृद्धि का गुण पाया जाता है। और इसका यह गुण इस बात से प्रतीत होता है, कि यह ओम् एक अनुज्ञा का अक्षर है। अर्थात् संस्कृत में अनुज्ञा देते समय ओम् कहा जाता है। अनुज्ञा=अनुमति [इजाज़त, Permission] अब इस बात को देखना है, कि अनुज्ञा देने का अधिकार किसको है? जो धर्म में, धन में, प्रभुता में, वा विद्या में दूसरों से बढ़ा हुआ नहीं, उससे कोई अनुज्ञा नहीं मांगता, न वह किसी को देता है। हां उसको आप दूसरों से अनुज्ञा मांगने की अवश्य आवश्यकता पड़ती है। पर अनुज्ञा उसी से मांगी जाती है, और उसी को देने का अधिकार भी है। जो धर्म में, विद्या में, प्रभुता में, वा धन में, दूसरों से आगे बढ़ा हुआ है। इससे क्या सिद्ध होता है, यह, कि अनुज्ञा मनुष्य की समृद्धि है, जो समृद्ध है, उसी को अनुज्ञा देने का अधिकार है, असमृद्ध को नहीं। तब यह ओम् जो अनुज्ञा देने

अर्थात् जिसका वाणिज्य, धन, विद्या प्रभुता आदि इतने बढ़े हुए हैं, कि वह अपने आप में समा नहीं सकें। तो वह देश समृद्ध है और यह उस की समृद्धि है। और यदि वह देश इतना पीछे है, कि वह वाणिज्य विद्या प्रभुता आदि में से किसी अंश में भी दूसरे देश पर निर्भर रखता है, तो वह देश व्यृद्ध है, और यह दुर्दशा उसकी व्यृद्धि है। यहां सारी कामनाओं को समृद्ध करता है, इससे यह अभिप्राय है, कि वह यजमान की कामनाओं को इतना बढ़ा कर पूरा करता है, कि अपनी सारी जरूरतें को पूरा करके दूसरों की जरूरतों को भी उस से पूरा कर सका है।

में बोला जाता है, बोलने वाले की समृद्धि को प्रगट करता है। यह ओम् की महिमा है। वह उद्गाता जो इस महिमा पर ध्यान धरता हुआ ओम् का उच्चारण करता है, वह यजमान की कामनाओं को फलता फूलता बना देता है।

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते, ओमित्याश्रावयति, ओमिति श ꣡ सति,ओमित्युद्गायति,एतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन। ९।

उस [ओम् अक्षर] से यह त्रयी विद्या [ऋचा, यजु और साम की विद्या] प्रवृत्त होती है, ओम् यह कहकर [अध्वर्यु] आश्रावण कराता है। ओम् यह कहकर [होता] स्तुति करता है। ओम् यह कहकर [उद्गाता] गाता है। इसी अक्षर की पूजा के लिये। [इसी की] महिमा से [इसी के) रस से * । ९।

पहले तीन गुणों के साथ तो ओम् की उपासना बतलाई है। अब यहां केवल स्तुति है। यहां 'आश्रावयति, शंसति, उद्गायति' यह

* 'महिम्ना रसेन' महिमा से रस से। इसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। स्वामी शंकराचार्य ने इसका अभिप्राय यह वर्णन किया है। कि यज्ञ इसी अक्षर की पूजा के लिये किया जाता है। इसी अक्षर की महिमा से किया जाता है और इसी के रस से किया जाता है। इस अक्षर की महिमा से अर्थात् ऋत्विज्, यजमान और पत्नी के प्राणों से, और इसी के रस से अर्थात् चावल और जौ आदि के रस से बनी हुई हवि से। प्राण और अन्न का ओम् अक्षर के साथ यह सम्बन्ध है, कि याग होम आदि ओम् अक्षर से किया जाता है। यह सूर्य को पहुंचता है। सूर्य वृष्टि को भेजता है। वृष्टि से अन्न होता है। और अन्न जीवन और प्राण का हेतु है। और प्राण और अन्न से यज्ञ किया जाता है, इस लिये कहा है कि यज्ञ अक्षर की महिमा से और अक्षर के रस से किया जाता है।

यज्ञ के पारिभाषिक [इस्तलाही, Technical] शब्द हैं। यज्ञ में अध्वर्यु आग्नीध्र को 'ओम् आश्रवय' यह कहकर 'अस्तु श्रौषट्' कहने के लिये प्रेरणा करता है, यह 'आश्रावयति' से अभिप्राय है। होता जो स्तुति के शस्त्र [ऋचाओं का समुदाय] पढ़ता है, वह 'शंसति' से अभिप्राय है, और उद्गाता जो साममन्त्र गाता है, वह उद्गायति से अभिप्राय है।

सोमयज्ञ में ये तीनों ऋत्विज् [अध्वर्यु, होता, उद्गाता] प्राय' काम में लगे रहते हे । इन में से हर एक ऋत्विज् यज्ञ में अपना काम ओम् से आरम्भ करता है । अतएव सारा यज्ञ ओम् पर सहारा रखता है, और इस तरह पर यज्ञ से ओम् की पूजा की जाती है, जो परमात्मा का नाम हे । यह इस बात का निशान है, कि सारे यज्ञों का अन्तिम फल परमात्मा का जानना है।

तेनोभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥ १ ॥

उससे [ओम् अक्षर से, यज्ञ तो] दोनों करते हैं, वह जो यह [ओम् के इस सच्चे अर्थ को] जानता है, और वह जो नहीं जानता है । पर जानने और न जानने में बड़ा भेद है । [वह यज्ञ] जिसको पुरुष विद्या से श्रद्धा से और उपनिषद् से पूरा करता है, वही अधिकशक्तिवाला होता है । यह [ओम्] अक्षर का पूरा व्याख्यान है । १० ।

पहले आठ प्रवाकों में ओम् की उपासना बतलाकर नवें में यज्ञ का सारा निर्भर ओम् पर है, इस बात को दिखलाया है ।

और ऋत्विजों के लिये ओम् के रहस्य अर्थ का जानना आवश्यक दिखलाया है। इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है। कि वह जो ओम् अक्षर का केवल शुद्ध उच्चारण कर सक्ता है, और वह जो इसके गुह्य अर्थको जानता है, दोनों ही उसी यज्ञ को पूरा कर सक्ते हैं, तो क्या आवश्यकता है, कि ऋत्विज् इस के रहस्यार्थ को जानें। और हमारा अपना अनुभव भी तो इसी बात को सिद्ध करता है, कि एक तो वह है, जो हरीतकी [हरड] के गुणों को जानता है, और दूसरा वह है जो नहीं जानता है, पर दोनों को उसके सेवन से एक जैसा विरेचन होता है। इसी तरह बादामरौग़न के निकालने वाले बादामों को कूटकर उन पर पानी छिडकते हैं। उन में से बहुत से ऐसे हैं, जो इस मोटे नियम [असूल] को भी नहीं जानते, कि क्यों पानी छिड़कने से बादामरौग़न बाहर आता है। उनसे पूछो। पानी क्यों डालते हो? वह सीधे शब्दों में इसका उत्तर देंगे, इसके बिना निकलता नहीं। पानी डालने से क्यों निकलता है? परमेश्वर की मर्ज़ी, हमारी तुम्हारी मर्ज़ी तो नहीं चलती। बस इसके सिवाय वह कुछ उत्तर नहीं देंगे। इतने भोले भाले तो निकालने वाले पर बादामरौग़न वैसाही निकलता है, जैसा एक पूर्ण वैज्ञानिक [साइन्सवेत्ता] के हाथ से निकलसक्ता है। क्योंकि 'नहि द्रव्यशक्तिर्ज्ञानमपेक्षते'=द्रव्य की निज शक्ति किसी के ज्ञान की परवाह नहीं करती। इसी तरह यज्ञ का अनुष्ठान और ओम् का उच्चारण भी अपना फल देगा, वह किसी के ज्ञान की परवाह नहीं करता। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है, कि न जानने की अपेक्षा जानना अत्युत्तम है। बेशक हीरा हीरा ही है, पर उसका जो मूल्य एक गंवार लाभ करता है, जौहरी उससे कई गुना अधिक लाभ करता है। ओम् के गुणों को, जौहरी की तरह परखो और श्रद्धा से भरे हुए हृदय से उसका उच्चारण करो, उस:

के रहस्यार्थ पर ध्यान धरो। तो तुम्हारा फल कई गुना बढ़जाएगा।

यह विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् यद्यपि यहां ओम् के सम्बन्ध में कही हैं, पर यह हर एक धर्मकार्य के अंग हैं। धर्मकार्यों में जो स्वभावसिद्ध शक्ति है, वह इन अंगों के मेल से अधिक बलवाली बनजाती है। क्योंकि ये अन्तःकरण को और भी अधिक शुद्ध बनाते हैं और संकल्प को और भी अधिक दृढ बनाते हैं।

दूसरा खण्ड

देवासुरा हवै यत्र संयेतिरे। उभये प्राजापत्याः, तद्ध देवा उद्गीथ माजह्रुः, अनेनैनानभिभविष्याम इति।१।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तꣳ हासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयं जिघ्रति–सुरभि च दुर्गन्धि च, पाप्मना ह्येष विद्धः। २।

अथ ह वाच मुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। ताꣳ हासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयं वदति-सत्यं चानृतं च, पाप्मना ह्येपा विद्धा। ३।

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयं पश्यति-दर्शनीयं चादर्शनीयं च, पाप्मना ह्येतद् विद्धम्। ४।

*देवता और असुर जो दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, † यह

---

* यह आख्यायिका इसी तरह पर बृह० आर० उप० १। ३ में भी आई है, तथापि इन दोनों का उद्देश्य परस्पर विभिन्न है। यहां उपास्यमाण उद्गीथावयव ओम् है और वहां उद्गाता है। देखोवेदान्त ३। ३। ६–८

† मनुष्य की धार्मिक वृत्तियां देवता हैं, और पापकी वृत्तियां

जब आपस में जुटे [एक दूसरे को जीतने के प्रयत्न मे लगे] तब देवताओं ने उद्गीथ [ओम्] को ग्रहण किया, कि इससे हम इन को [असुरों] को दवालेंगे ॥ १ ॥

उन्होंने [देवताओं ने] नासिका में होने वाले प्राण [घ्राण] की दृष्टि से उद्गीथ [ओम्] की उपासना की, * उस [घ्राण]-

असुर। और प्रजापति मनुष्य है, जिस की ये दोनों सन्तान हैं। धर्म की वृत्तियां पाप की वृत्तियों को दवाना चाहती हैं, और पाप की वृत्तियां धर्म की वृत्तियों को । यही देवासुरसंग्राम है (सविस्तर व्याख्या के लिये देखो बृहदारण्यक पृष्ठ ३३ से ४१) ॥

* यज्ञ में उद्गाता ऐसा होना चाहिये जो उद्गीथ (ओम्) का उपासक है, वही यजमान की कामनाओं को पूरा कर सक्ता है और उसी से किया हुआ कर्म वीर्यवत्तर होता है, यह पूर्व कह चुके हैं। अब यह बतलाते हैं, कि उसे ओम् की उपासना करते समय किस स्वरूप पर ध्यान धरना चाहिये। उद्गाता ने अपने उद्गीथ के गाने में दूसरों की (यजमान आदि की) भलाई मांगनी है। उसकी प्रवृत्ति यहां स्वार्थ नहीं, किन्तु परार्थ है। इसलिये उसको ऐसे स्वरूप पर ध्यान धरना चाहिये, कि जिसकी प्रवृत्ति स्वार्थ न हो, किन्तु परार्थ हो। जिस पर दूसरों का सहारा हो, न कि अपना सहारा दूसरों पर रक्खे। ऐसे स्वरूप पर ध्यान धरने से उद्गाता का मन उसी रंग में रंग जाता है 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' तब वह सचमुच इस योग्य बनजाता है, कि वह दूसरों के लिये वर मांगे और उसकी प्रार्थना पूरी हो। ऐसा स्वरूप शरीर में प्राण है और बाह्य में सूर्य। प्राण से इन्द्रियों की रक्षा होती है और सूर्य से सारी प्रजाओं की। इस लिये यहां सारे इन्द्रियों की परीक्षा करके सब में स्वार्थ दिखलाकर अन्त में प्राण को केवल परार्थी दिखलाया है। सो शरीर में प्राण और बाह्य में सूर्य द्वारा ब्रह्म की जो महिमा (दूसरों का सहारा होना) प्रकाशित होती है, उस महिमा के साथ ब्रह्म इन व्यष्टिरूपों में उद्गीथोपासना का ध्येय है। (शेष नोट आगे देखो)

को असुरों ने पाप से बींध दिया। इस लिये उस [प्राण] से मनुष्य दोनों को सूंघता है–जो सुगन्ध वाली वस्तु है और जो दुर्गन्ध वाली है, क्योंकि यह [प्राण] पाप से बींधा हुआ है * । २ ।

तब उन्हों ने वाणी की दृष्टि से उद्गीथ [ओम्] की उपासना की, पर असुरोंने उसको भी पाप से बींध दिया। इस लिये मनुष्य उससे दोनो बातें बोलता है–सच और झूठ; क्योंकि वाणी पाप से बींधी हुई है ॥ ३ ॥

तब उन्होंने आंख की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना की, पर असुरों ने उसको भी पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य उससे दोनों बातें देखता है–देखने योग्य और न देखने योग्य; क्योंकि आंख पाप से बींधी हुई है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथ मुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयꣳ शृणोति-श्रवणीयं चाश्रवणीयं च, पाप्मना ह्येतद् विद्धम्। ५।

अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयꣳ संकल्पयते-संकल्पनीयं चासंकल्पनीयञ्च, पाप्मना ह्येतद् विद्धम्। ६।

अक्षरार्थ 'नासिका में होने वाले प्राण को उद्गीथ उपासा' अर्थात् यह प्राण जो नासिका में चलता है, यह उद्गीथ है, ऐसा जान कर उद्गीथ की उपासना की॥

* पाप का फल केवल दुर्गन्ध है। प्राण यदि पाप से न बींधा जाता, तो वह केवल सुगन्ध ही सूंघता, अब पाप से बींधा हुआ है, इस लिये दुर्गन्ध भी सूंघता है। सुगन्ध में प्राणकी अपनी आसक्ति (लालच) है, यही इसमें पाप है। अर्थात् यद्यपि सुगन्ध सूंघने का फल सारे इन्द्रियों को मिलता है, तथापि प्राण का काम स्वार्थ से शून्य नहीं, जैसा कि प्राण का है।

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणः, तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। त ँहासुरा ऋत्वा विदध्व ँसुर्यथाऽश्मानमाखनमृत्वा विध्व ँसेत ॥ ७ ।

एवं यथाऽश्मानमाखनमृत्वा विध्व ँसेत, एव ँहैव स विध्व ँसते, य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति, स एषोऽश्माऽऽखणः । ८ ।

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानाति, अपहतपाप्मा ह्येषः, तेन यदश्नाति यत् पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ।९।

तब उन्हों ने श्रोत्र की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना की, पर असुरों ने उसको भी पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य उससे दोनों बातें सुनता है—सुनने योग्य और न सुनने योग्य; क्योंकि श्रोत्र पाप से बींधा हुआ है ॥ ८ ॥

तब उन्हों ने मन की दृष्टि से उद्गीथ [ओम्] की उपासना की, पर असुरों ने उसको भी पाप से बींध दिया, इस लिये मनुष्य उस से दोनों बातें सोचता है, वह जो सोचने योग्य है और वह जो नहीं सोचने योग्य है; क्योंकि मन पाप से बींधा हुआ है ॥ ६ ॥

अब यह जो मुख्य * [मुख में होनेवाला] प्राण है इस की दृष्टि से उन्हों ने उद्गीथ की उपासना की, जब असुर उस (मुख्य प्राण)

* मुख्य प्राण से दो अभिप्राय होसक्ते हैं, मुखिया या मुख में होनेवाला प्राण। प्राण सारे इन्द्रियों में मुखिया है श्रेष्ठ है [देखो [छान्दो० उप० ५।१] और प्राण मुख में होने वाला है अयास्य है [देखो छान्दो० १।२।१२] ॥

के पास पहुंचे, तो वह इस तरह * तित्तर बित्तर हुए, जैसे एक (मट्टी का ढेला) किसी सख्त पत्थर पर लग कर चूर २ हो जाता है ॥ ७ ॥

जैसे [मट्टी का ढेला] सख्त पत्थर पर लग कर चूर २ हो जाता है, इसी तरह वह पुरुष विनष्ट [तबाह] होता है, जो किसी ऐसे पुरुष के लिये पाप चिन्तन करता है, वा इसे सताता है, जो इस (रहस्य) का जाननेवाला है (अर्थात् प्राण की दृष्टि से उद्गीथ का उपासक है)। क्योंकि वह (उपासक) एक सख्त पत्थर है ॥ ८ ॥

(यह जो मुख में प्राण है) इस से मनुष्य न तो सुगन्धवाली वस्तु को जानता है और न ही दुर्गन्धवाली को, क्योंकि यह (प्राण) पाप से बचा हुआ है, इस से मनुष्य जो कुछ खाता है और जो पीता है, उस से दूसरे प्राणों (इन्द्रियों) की रक्षा होती है। जब अन्त (मरण) समय होता है, तो इसी (प्राण, जिस के द्वारा हम खाते पीते और जीते हैं) के न मिलने से वह † (मनुष्य) चल देता है। वह अन्त समय में (मुंह को) अवश्यही खोल देता है ‡। (मानो चाहता है, कि प्राण उसमें वापिस आजाए) ॥ ९ ॥

---

* 'इस तरह' यह 'एवम्' का अर्थ है, जो आठवें प्रवाक के आदि में है। ऐसाही १०,११,१२, प्रवाक में आदि का तेन, पूर्व प्रवाक से सम्बद्ध है।

† वह=घ्राण आदि इन्द्रियों का समुदाय। घ्राण आदि इन्द्रिय उस समय इस शरीर से चलदेते हैं, जब प्राण जो उन सब का पालन करने वाला (संवर्गः) है, वह अब खापीकर उन की रक्षा नहीं करसकता (शंकराचार्य)

‡ प्राण के निकलते समय जो मनुष्य का मुंह खुलजाता है, यह इस बात का चिन्ह है, कि अब भी प्राण कुछ खाना चाहता है, जिस से वह अब भी इन्द्रियों की सहायता देसके ॥ (शंकराचार्य)

त ँहाङ्गिरा उद्गीथ मुपासाञ्चक्रे, एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्ते, अङ्गानां यद्रसः । १० । तेन । त ँह बृहस्पति रुद्गीथ मुपासाञ्चक्रे, एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते, वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः। ११ । तेन । त ँहायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्रे । एतमु एवायास्यं मन्यन्त, आस्याद्र यदयते । १२ । तेन । त ँह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार, स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव। स ह्स्मैभ्यः कामानागायति । १३ । आगाता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते। इत्यध्यात्मम् । १४ । ॥ २ ॥

अङ्गिरस् ने प्राण की दृष्टि से उद्गीथ [ओम्] की उपासना की, और लोग इसी को [प्राण को] ही अङ्गिरस मानते हैं, इस लिये कि प्राण अङ्गों का रस है [शरीर के अंग इसी से हरे भरे रहते हैं । अङ्ग+रस=अङ्गिरस्] । १० ।

बृहस्पति ने प्राण की दृष्टि से उद्गीथ [ओम्] की उपासना की, और लोग इसी को बृहस्पति मानते हैं. इस लिये, कि वाणी बृहती है और यह [प्राण] उसका पति है [बृहती+पति=बृहस्पति] ।११।

अयास्य ने प्राण की दृष्टि से ओम् की उपासना की, और लोग इसी को अयास्य मानते हैं, इसलिये कि वह मुंह से आता है [आस्यात् अयते । आस्य+अयः=अयास्यः] । १२ ।

उसको [प्राण को] दाल्भ्य [दल्भ्य के पुत्र] बकने जाना [उद्गीथ के तौर पर उपासना किया] वह नैमिषीयों [नैमिष वन

के याज्ञिकों] का उद्गाता बना, और उसने गाकर इनकी कामनाओं को पूरा किया* । १३ ।

वह जो इस [रहस्य] को इस प्रकार जानता हुआ उद्गीथ [ओम्] अक्षर की उपासना करता है, वह [उद्गीथ] गाकर कामनाओं का पूरा करने वाला बन जाता है । यह अध्यात्म है † । १४ ।

तीसरा खण्ड

अथाऽधिदैवतम् । य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत । उद्यन् वा एष प्रजाभ्य उद्गायति, उद्य

* शंकराचार्य से पहले वृत्तिकार ने १० से १३ इन तीन प्रवाकों का एक साथ अन्वय करके यह अर्थ किया है। बक दाल्भ्य ने प्राण को अङ्गिरस् (अंगो का रस), बृहस्पति (वाणी का पति) और अयास्य (मुख से आने वाला) इन गुणों वाला मानकर उसकी उपासना की। पर यह अर्थ तब ठीक होसक्ता है, जो 'अङ्गिराः' बृहस्पतिः, अयास्यः, इनके आगे एक 'इति' हो। अथवा ये द्वितीयान्त हों। जो पाठ पाया जाता है, उसके अनुसार यही अर्थ ठीक है, कि अङ्गिरा, बृहस्पति और अयास्य ऋषियों ने प्राण की उपासना की। शंकराचार्य ने भी यही अर्थ लेकर वृत्तिकार के अर्थ का खण्डन किया है। और यह दिखलाया है, कि यद्यपि यहां साथ ही साथ अङ्गिरस्, बृहस्पति और अयास्य ये नाम व्युत्पत्ति द्वारा प्राण के भी दिखलाए हैं, तथापि ये नाम ऋषियों के भी हैं, इस में कोई रुकावट नहीं, जैसाकि एत० आर० में विशिष्ठ आदि नाम ऋषियों के भी हैं और प्राण के भी हैं।

† अध्यात्म, जो शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है। अर्थात् उद्गीथ (ओम्) के वह अर्थ बतला दिये हैं, जो शरीर या शरीर के आश्रित इन्द्रियों के सम्बन्ध में हैं। अब उसके अधिदैवत अर्थात् जो देवताओं के सम्बन्ध में अर्थ हैं, वह बतलाएंगे ॥

स्तमो भय मपहन्ति । अपहन्ता हवै भयस्य तमसो भवति, य एवं वेद ॥ १ ॥

समान उ एवायञ्चासौ च । उष्णोऽय मुष्णोऽसौ, स्वर इतीममाचक्षते, स्वर इति, प्रत्यास्वर इत्यमुं । तस्माद्वा एतामिममसुं चोद्गीथ मुपासीत ॥ २ ॥

अब अधिदैवत है—(अर्थात् देवताओं के विषय में उद्गीथ की उपासना बतलाते हैं) । वह (आकाश में सूर्य) जो तपरहा है, उसकी दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) की उपासना करे । जब यह (सूर्य) उदय होता है, तो (उद्गाता के तौरपर) सारी प्रजाओं के लिये गाता है * और जब उदय होता है, तो अन्धेरे के भय को मार हटाता है । वह जो इस प्रकार जानता है (सूर्य की दृष्टि से ओम् को उपासता है), वह अन्धेरे (अविद्या) के भय को मार हटाने के योग्य बनजाता है ॥ २ ॥

† यह (प्राण जो मुख मे है) और वह (सूर्य जो आकाश में है) समानही हैं । गर्म यह (प्राण) है, और गर्म वह (सूर्य) है । ‡ स्वर इस को कहते हैं, और स्वर और प्रत्यास्वर उस (सूर्य)

* जैसे उद्गाता उद्गीथ गाकर यजमान की कामनाओं को पूरा करता है । इसी प्रकार सूर्य अपने उदय से लोगों की कामनों को पूरा करता है । क्योंकि अनाज का पकना और जीवन सूर्य से मिलते हैं ।

† अध्यात्म प्राण और अधिदैवत सूर्य में समता दिखलाते हैं । प्राण देह को गर्म रखता है और सूर्य सारे जगत् को गर्मी पहुंचाता है । यह उन दोनों की गुण से समता है। अगली नम से है अर्थात् दोनों को स्वर कहते हैं ॥

‡ स्वर=जाने वाला । प्रत्यास्वर=वापिस आनेवाला । मरने के समय प्राण केवल जाताही है, उसी देह में फिर वापिस नहीं आता ।

को कहते है। इसलिये चाहिये कि इस (प्राण) और उस (सूर्य) की दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) को उपासे॥ २॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत। यद्वै प्राणिति, स प्राणः। यदपानिति, सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः, स व्यानः। यो व्यानः सा वाक्। तस्माद प्राणन्ननपानन्वाच मभिव्याहरति ॥३॥

या वाक् सर्क्, तस्मादप्राणन्ननपानन्नृच मभिव्याहरति। यर्क् तत्साम, तस्मादप्राणन्ननपानन् साम गायति। यत्साम स उद्गीथः, तस्मादप्राणन्ननपानन्नुदुगायति ॥ ४ ॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि—यथाऽग्नेर्मन्थन माजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनम्, अप्राणन्ननपान ँ स्तानि करोति। एतस्य हेतो व्यानमेवोद्गीथ मुपासीत॥ ५॥

अब (दूसरे प्रकार से उद्गीथ की उपासना कहते हैं) चाहिये कि व्यान निःसंदेह उद्गीथ है इस दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) को उपासे। जो बाहर सास निकालना है यह प्राण है, और जो अन्दर खींचना है, यह अपान है। अब जो प्राण और अपान की सन्धि है (जोड है, सास का अन्दर ही थमना है) वह व्यान है। जो

इसलिये प्राण को स्वरही कहते है, प्रत्यास्वर नहीं कहते। और सूर्य अस्त होकर फिरभी दिन २ वापिस आता है, इसलिये वह स्वरभी है और प्रत्यास्वर भी है (शंकराचार्य)

व्यान है यह वाणी है । इसलिये जब हम वाणी बोलते हैं, तो न बाहर सांस लेते हैं, न अन्दर खींचते हैं । ३ ।

अब यह जो वाणी है, यह ऋचा है, इस लिये जब हम ऋचा बोलते हैं, तो न बाहर सांस लेते हैं, न अन्दर खींचते हैं । यह जो ऋचा है, यह साम है । इस लिये जब हम साम गाते हैं, तो न बाहर सांस लेते हैं, न अन्दर खीचते है ।

यह जो साम है, यह उद्गीथ है । इस लिये जब हम उद्गीथ गाते हैं, तो न बाहर सांस लेते हैं, न अन्दर खींचते हैं * । ४ ।

† इसके सिवाय और भी जो काम ऐसे हैं, जिन में बल की आवश्यकता है, जैसाकि रगड़कर आग निकालना, दौड़ दौड़ना, किसी दृढ़ धनुष का खींचना (चिल्ला चढ़ाना), उन [सब कर्मों]

---

* अध्यात्म और अधिदैवत एक २ ,उपासना कहकर अब फिर अध्यात्म उपासना बतलाते हैं । यहां पहले व्यान की दृष्टि से ओम् की उपासना कहकर व्यान और ओम् में अभेद यह दिखलाया है । कि व्यान सांस के थमने का नाम है । और जब हम वाणी बोलते हैं, तो हमारा सास थम जाता है, और तब वह शब्द के रूप में प्रगट होता है । और जब हम लगातार बोलते हैं, तो बीच २ में सांस को भी अवसर मिलता रहता है, और वह सांस थम २ कर शब्द के रूप में भी बदलता रहता है । इस प्रकार व्यान वाणी है । और वाणी का रस ऋचा, ऋचा का रस साम और साम का रस उद्गीथ (ओम्) है । इस प्रकार व्यान और उद्गीथ अभिन्न होने से व्यान की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे ।

† पहले व्यान की उद्गीथ के साथ एकता दिखलाई है । अब व्यान की महिमा दिखलाने के लिये यह सिद्ध करते हैं, कि शरीर में सारे बल साध्य काम इसी की शक्ति से हैं ॥

को बाहर और अन्दर सांस लिये विना पूरा करता है। इस लिये चाहिये, कि व्यान की दृष्टि मे ही उद्गीथ (ओम्) की उपासना करे। ५।

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीत, उद् -गी-थ इति। प्राण एवोत्, प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाग् गीर्,वाचो ह गिर इत्याचक्षते। अन्नं थम्, अन्ने हीद ँ सर्वं स्थितम्। ६।

द्यौरेवोद्, अन्तरिक्षं गीः, पृथिवी थम्। आदित्य एवोद्, वायुर्गीर्, अग्निस्थम्, सामवेद एवोद् यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थम्। दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं, यो वाचो दोहो ऽन्नवानन्नादो भवति, य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्ते, उद-गी-थ इति। ७।

मनुष्य को चाहिये कि उद्गीथ के अक्षरों पर ध्यान धरे अर्थात् उद्, गी, थ (पर ध्यान धरे)। उत् प्राण है, क्योंकि प्राण के द्वारा मनुष्य ऊपर उठता ह। गी वाणी है, क्योंकि वाणियों को 'गिरः' कहते हैं। थ अन्न है, क्योंकि अन्न के द्वारा यह सब कुछ स्थित है *। ६।

उत् द्यौ है, गी अन्तरिक्ष है, थ पृथिवी है। उत् सूर्य है, गी वायु है, थ अग्नि है। उत् सामवेद है, गी यजुर्वेद है, थ ऋग्वेद है †।

---

* उत्तिष्ठति से उत्, गिर से गी, और स्थित से थ लेकर उद्गीथ बना है।

† स्वामी शङ्कराचार्य ने इन सारे नामों के भी निर्वचन दिखलाए हैं। द्यौ उत् है क्योंकि वह ऊंचा है, अन्तरिक्ष गी है, क्योंकि वह सारे लोकों को निगल लेता है (गिरणात्) पृथिवी थ है, क्योंकि

वह जो, इस प्रकार जानता हुआ उद्गीथ के उद्, गी, थ इन तीन अक्षरों पर ध्यान धरता है, उस के लिये वाणी स्वयं दूध बहादेती है, जो वाणी का अपना दूध है *। और वह प्रभूत अन्नवाला और अन्न के खाने के योग्य (नीरोग) होता है ॥ ७ ॥

अथ खल्वाशीःसमृद्धिः। उपसरणानीत्युपासीत। येन साम्ना स्तोष्यन् स्यात्, तत् सामोपधावेत् ॥८॥

यस्यामृचि तामृचं; यदार्षेयं तमृषिं; यां देवता मभिष्टोष्यन् स्यात्, तां देवतामुपधावेत; ॥ ९ ॥

येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात्, तच्छन्द उपधावेत्, येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्, त ँ स्तोममुप धावेत् ॥ १० ॥

यांदिशमभिष्टोष्यन् स्यात्, तां दिशमुपधावेत ११॥

आत्मान मन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्न

सारे प्राणधारियों के रहने का स्थान है। सूर्य उत् है, क्योंकि यह ऊपर है, वायु गी है, क्योंकि यह अग्नि आदिकों को निगल लेता है, अग्नि थ है, क्योंकि यह यज्ञ का स्थान है। साम वेद उत् है, क्योंकि स्वर्ग के तौर पर इसकी स्तुति की गई है, यजुर्वेद गी है, क्योंकि यजु से दी हुई हवि को देवता निगलते हैं, ऋग्वेद थ है, क्योंकि यह साम के मन्त्रों का स्थान है।

यह उद्गीथ के अक्षरों का विभाग बृह० आर० उप० १।३। २३ में दिखलाया है। वहां उत्=प्राण और गीथा=वाणी ये दो विभाग किये हैं।

* वाणी का दूध, वेदों के ज्ञान का फल। अथवा इसको यह अर्थ कर सक्ते हैं वाणी इसके लिये दूध देती है, जो वाणी का दोहने वाला है।

प्रमत्तः। अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृद्ध्येत, यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

अब (उद्गाता की) प्रार्थनाओं की समृद्धि (फलना फूलना; जिस तरह होसके यह बतलाते हैं)। चाहिये कि उपसरणों*पर इस तरह ध्यान लगाए। (उद्गाता को) चाहिये, कि जिस साम से स्तुति करनी हो, उस साम को चिन्तन करे; ॥ ८ ॥

जिस ऋचा में (वह साम) है, उस ऋचा का चिन्तन करे: जो उस (साम) का ऋषि है, उस ऋषि का चिन्तन करे; जिस देवता को लक्ष्य में रख कर स्तुति करनी है, उस देवता का चिन्तन करे; ॥ ९ ॥

जिस छन्द से स्तुति करनी है, उस छन्द का चिन्तन करे; जिस स्तोम से उसने अपने लिये † स्तुति करनी है, उस स्तोम का का चिन्तन करे; ॥ १० ॥

जिस दिशा को लक्ष्य में रख करे स्तुति करनी है, उस दिशा का चिन्तन करे ‡ ॥ ११ ॥

---

* उपसरण, उपधावन दौडकर पासजाना। यहां अभिप्राय मन को जल्दी उधर लगाने से है। अर्थात् उद्गाता जब स्तुति गाना चाहता है, तो पहले उस का मन इन बातों पर दौडना चाहिये, अर्थात् वह इन को जल्दी२ से ध्यान में लाए जिन का आगे२ चिन्तन, करना लिखा है। इन का जल्दी२ चिन्तन करनाही उपसरण और उप धावन कहलाता है॥

† 'स्तोष्यमाण' आत्मनेपद इसलिये है, कि स्तोम का फल उद्गाता को होता है, इस बात के जितलाने के लिये 'अपने लिये, यह अर्थ बढा दिया गया है॥

‡ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, जिधर वह चाहता है, कि उसकी यह कामना पूरा हो।

अन्त में अपने आपका (उद्गाता अपने नाम गोत्र आदि का) चिन्तन करके अपनी कामना का ध्यान करता हुआ अप्रमत्त होकर (सावधान होकर, अर्थात न उच्चारण में कोई अशुद्धि करता हुआ, न मन को इधर उधर जाने देता हुआ) स्तुति करे (स्तोम गाए) । तब जल्दी ही उसके लिये वह कामना फले फूलेगी, जिस कामना वाला होकर वह स्तुति करेगा, हा वह जिस कामना वाला होकर स्तुति करेगा ॥ १२ ॥

चौथा खण्ड

ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीत. ओमिति ह्युद्गायति । तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् । ते छन्दोभिरच्छादयन् । यदेभिरच्छादय ५ सू, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यद्—ऋचि साम्नि यजुषि । ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः, स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरति, एव ५ सामैवंयजुः, एष उ स्वरो, यदेतदक्षर मेतदमृतमभयं, तत् प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

स य एतदेवंविद्वानक्षरं प्रणौति, एतदेवाक्षर ५ स्वरममृतमभयं प्रविशति, तत् प्रविश्य यदमृता देवास्, तदमृतो भवति ॥ ५ ॥

मनुष्य को चाहिये, कि उद्गीथ के तौरपर ओम् अक्षर की उपासना करे, क्योंकि (उद्गाता) ओम् से आरम्भ करके (उद्गीथ को) गाता है। और यह (आगे) उस (ओम्) का पूरा व्याख्यान है॥१॥

देवता मृत्यु के भय से, त्रयी विद्या (वेदविद्या) में प्रविष्ट हुए। (त्रयी विद्या में प्रविष्ट होकर) उन्हों ने छन्दों से (पद्यात्मक मन्त्रों से) अपने आप को ढांप लिया। और जिस लिये उन्हों ने (देवताओं ने) छन्दों से अपने आप को ढांपा, इसलिये इनको छन्द*कहते हैं ॥ २ ॥

तब जैसा कि एक मछली पकड़नेवाला पानी के अन्दर मछली को ताड़ लेवे, इस प्रकार उन देवताओं को वहां ऋचा यजु और साम के अन्दर मृत्यु ने ताड़ लिया। और देवता यह जान कर (कि यहां हम मृत्यु से छिपे नहीं रहे) ऋचा, यजु और साम से ऊपर चढ़ कर, स्वर (ओम्) में प्रविष्ट हुए (ओम् की उपासना की) ॥ ३ ॥

जब कोई पुरुष ऋचा (ऋग्वेद) को पा लेता है, (अपने अधीन करलेता है, पूरा २ जान लेता है) तो वह ओ३म् इस प्रकार (आदर के साथ) लम्बा उच्चारण करता है, इसी प्रकार जब वह साम को पा लेता है, और जब यजु को पा लेता है (तो ओ३म् उच्चारण करता है)। यह ही स्वर है, जो यह अक्षर (अविनाशि) है, अमृत है, अभय है। उसमें प्रवेश करके देवता अमृत और अभय हो गए॥ ४ ॥

सो जो यह इस प्रकार जानकर अक्षर (ओम्) को ऊंचे उच्चारण करता है, वह इसी अक्षर (अविनाशि) स्वर अमृत

---

* छन्दस्, छद् (ढापना) से है॥

अभय में प्रवेश करता है, और इसमें प्रवेश करके जिस अमृत वाले देवता हैं, उसी अमृतवाला होता है (देवताओं के सदृश अमृत होता है) ॥ ५ ॥

पांचवां खण्ड

अथ खलु य उद्गीथः, स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथ इति । असौ वा आदित्य उद्गीथः, एप प्रणवः, ओमिति ह्येप स्वरन्नेति । १ ।

'एतमु एवाहमभ्यगासिपं, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौपीतकिः पुत्रमुवाच । 'रश्मी ँ स्त्वं पर्यावर्तयाद्, बहवो वै ते भविष्यन्ति' इत्यधिदैवतम् । २ ।

अथाऽध्यात्मम् । य एवायं मुख्यः प्राणः, तमुद्गीथ मुपासीत । ओमिति ह्येप स्वरन्नेति । ३ ।

'एतमु एवाहमभ्यगासिपं, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति' ह कौपीतकिः पुत्रमुवाच 'प्राण ँ स्त्वं भूमानमभिगायताद्, बहवो वै मे भविष्यन्तीति' । ४ ।

अथ खलु य उद्गीथः, स प्रणवः, यः प्रणवः, स उद्गीथ, इति होतृपदनाद्धैवापि दुरुद्गीत मनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति । ५ ।

जो उद्गीथ है, वह प्रणव है, जो प्रणव है, वह उद्गीथ है। वह (आकाश में) सूर्य उद्गीथ * है, यह प्रणव है, क्योंकि यह (सूर्य) ओम् उचारता हुआ जाता है । १ ।

* देखो छान्दो० उप० १ । ३ । १

कौपीतकि ने अपने पुत्र को कहा, कि 'इसी को मैंने (ओम् से) गाया, इस लिये तू मेरे अकेला (पुत्र) है'। 'अब तू किरणों को घुमा, (वार २ ध्यान लगा) तब तेरे बहुत (पुत्र) होंगे'। यह अधिदैवत है (देवताओं के सम्बन्ध में है)। २।

अब शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं। चाहिये कि यह जो मुख में माण है, उसको उद्गीथ के तौर पर उपासे, क्योंकि यह ओम् उचारता हुआ चलता * है। ३।

कौपीतकि ने अपने पुत्र को कहा, कि 'इसी (माण) को मैने (ओम् से) गाया, इस लिये तू मेरे अकेला पुत्र है, अब तू यदि चाहता है, कि मेरे बहुत पुत्र हों, तो माण को भूमा (बहुत गुना) जानकर (ओम् से) गा। ४।

जो यह जानता है कि जो उद्गीथ है, वह मणव है, जो मणव है, वह उद्गीथ है, वह होतृपदन [होता के बैठने की जगह] से ही गाने की अशुद्धि को ठीक कर देता है, हां ठीक कर देता है। ५।

ऋग्वेदी मायः मणव बोलते हैं, और सामवेदी उद्गीथ। यह दोनों नाम ओम् की जगह बोले जाते हैं। इस खण्ड में इन दोनों की एकता दिखलाकर अन्त में यह सिद्ध किया है, कि मणव और उद्गीथ एकही हैं, इस लिये यदि उद्गाता से उद्गीथ के गाने में कोई त्रुटि होजाए, तो होता मणव के उच्चारण में उस त्रुटि को पूरा कर

---

* जो मुख में माण है, वह ओम् कहता हुआ चलता है, इस का यह अभिप्राय है कि पांचों इन्द्रियों को काम करने की अनुज्ञा देता हुआ चलता है, इसी तरह 'सूर्य' ओम् कहता हुआ, यह अभिप्राय है, कि सब माणधारियों को चलने फिरने की अनुज्ञा देता हुआ (ओम्=अनुज्ञा-देखो पूर्व १।८)

देता है, क्योंकि जो उद्गीथ है, वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। कौषीतकि के उपदेश से भी उद्गीथ और प्रणव की एकता दिखलाई है। कौषीतकि ऋग्वेद का आचार्य है, उसने प्रणव से अधिदैवत में सूर्य और अध्यात्म में प्राण को गाया है और इन्हीं दोनों को सामवेदी उद्गीथ से गाते हैं। इसलिये प्रणव और उद्गीथ एक ही है।

छठा खण्ड *

इयमेवर्गग्निः साम। तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। इयमेवसाऽग्निरमस्तत्साम। १।

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम। तदेतस्या मृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। अन्तरिक्षमेव सा वायु रमस्तत्साम। २।

द्यौरेवर्गादित्यः साम। तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। द्यौरेव साऽऽदित्यो ऽमस्तत्साम। ३।

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम। तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम। ४।

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं

---

* ६, ७ इन दोखण्डों का विषय एक है। दोनों को इकट्ठा देखो और अन्त की व्याख्या पर पूरा ध्यान दो।

परः कृष्णं तत्साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँसाम । तस्मा
दृच्यध्यूढ ँसाम गीयते । ५ ।

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं
परः कृष्णं तदमस्तत्साम ।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते
हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः ।६।

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी । तस्यो
दितिनाम । स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः । उदेति हवै
सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो, य एवं वेद । ७ ।

तस्यर्क् च साम च गेष्णो, तस्मादुद्गीथः । तस्मात्त्वे
वोद्गातैतस्य हि गाता । स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो
लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च । इत्यधिदैवतम् । ८ ।

* ऋचा पृथिवी है, साम अग्नि है । यह साम [अग्नि] इस ऋचा [पृथिवी] के सहारे है, [निर्भर रखता है] । इस लिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है । सा पृथिवी है, अम अग्नि है, यह साम है [यह दोनों सा+अम=साम है] । १ ।

ऋचा अन्तरिक्ष है. साम वायु है । यह साम [वायु] इस ऋचा [अन्तरिक्ष] के सहारे है । इस लिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा अन्तरिक्ष है और अम वायु है । यह साम है ॥२॥

ऋचा द्यौ है, साम सूर्य है । यह साम [सूर्य] इस ऋचा [द्यौ] के सहारे है । इस लिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है । सा द्यौ है, अम सूर्य है, यह साम है । ३ ।

ऋचा नक्षत्र हैं, साम चन्द्रमा है। यह साम [चन्द्रमा] इस ऋचा [नक्षत्रों] के सहारे है। इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा नक्षत्र हैं, अम चन्द्रमा है। यह साम है। ४।

अब यह जो सूर्य की श्वेत दीप्ति [चमक] है, यह ऋचा है, और जो [सूर्य में] नीला—अत्यन्त कालापन * है यह साम है। यह साम [कालापन] ऋचा [श्वेतचमक] के सहारे है। इसलिये ऋचा के सहारे साम गाया जाता है। ५।

सा सूर्य की श्वेतदीप्ति है, अम नीला—अत्यन्त कालापन है। यह साम है।

अब यह सुनहरी [सुवर्ण की तरह चमकता हुआ] पुरुष जो सूर्य के अन्दर दीखता है, जिसकी सुनहरी दाढ़ी और सुनहरी बाल हैं, नखों के अग्र तक जो सारा ही सुवर्णमय है। ६।

उसकी आंखें कप्यास † कमल की नाईं हैं, उसका नाम उत् है। क्योंकि वह सारे पापों से ऊपर चढ़ा हुआ है ‡। वह जो यह जानता है, सारे पापों से ऊपर चढ़ जाता है। ७।

ऋचा और साम उसके जोड़ § हैं, इस लिये [उद्गीथ] उद्गीथ

---

* यह अत्यन्त कालापन उनको दीखता है, जो सूर्य के अन्दर दृष्टि जमा सके हैं।

† कप्यास=कपि+आस, बन्दर की बैठने की जगह, अर्थात् बन्दर का पुच्छ भाग जैसे बड़ा लाल होता है, उसकी तरह जो लाल कमल है, वैसे लाल उसके नेत्र हैं, ताज़ह खिले हुए लाल कमल के तुल्य उसके नेत्र हैं, अर्थात् बड़े तेजस्वी हैं (शंकराचार्य) पर यह अर्थ बनाया हुआ प्रतीत होता है। यह शब्द अन्यत्र कहीं देखा नहीं गया, इस लिये अर्थ का निर्धारण करना कठिन है।

‡ उदितः से उत् निकला है।

§ उद्गेष्णौ=उद् के जोड़, से उद्गीथ बना है।

है। और इसी लिये [उद्गाता] उद्गाता * है, क्योंकि वह इस [पुरुष] का गाने वाला है। [सूर्य के अन्दर जो पुरुष है, जिसका नाम उद् है] उन सारे लोकों का मालिक है, जो उस [सूर्य] से परे हैं, और देवताओं की सारी कामनाओं का मालिक है। यह अधिदैवत है [देवताओं के सम्बन्ध में है] † ॥ ८ ॥

सातवां खण्ड

अथाध्यात्मम् । वागेवर्क्, प्राणः साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम ।

---

* उद्+गाता=उद्गाता उद् का गानेवाला।

† साममन्त्र साम के अपने नियत स्वर से गाए जाते हैं, इतने से ही वह साम कहलाते हैं, वस्तुतः वह सब ऋचा ही हैं। यह ऋचाएं लग भग सारी ऋग्वेद में पाईजाती है, और जो ऋग्वेद में नहीं पाई जातीं। वह भी ऋचाही है, क्योंकि उनमें ऋचा का लक्षण पाया जाता है। इसीलिये साम का वह भाग आर्चिक कहलाता है, जिसमें इन ऋचाओं का संग्रह है। इसलिये यहां बार२ कहा है, कि साम ऋचा के सहारे है।

अब यहां आरम्भ से उद्गीथ का वर्णन है और उद्गीथ साम का भाग है और साम ऋचा के सहारे है। इसलिये यहां पहले ऋचा और साम के भिन्न२ अर्थ दिखलाकर अन्त में यह दिखलाया है कि आदित्य में उपास्य पुरुष का नाम उद् है। और यह ऋचा और साम उसके 'गेष्ण' जोड़ हैं। इसलिये वह उद्गीथ है अर्थात् उद्+गेष्ण से उद्गीथ बना है। उद्गीथ जो साम का भाग है, उसके जोड़ भी ऋचा और साम है। और उद्गीथ जो आदित्यस्थ पुरुष है, उसके जोड़ पृथिवी आदि (ऋचा) और अग्नि आदि (साम) हैं। और उद्गाता को उद्गाता इसलिये कहते हैं, कि वह उद् का गाने वाला है अर्थात् उद्+गाता=उद्गाता है।

तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। चक्षुरेव सा ऽऽत्माऽम स्तत्साम ॥ २ ॥

श्रोत्रमेवर्ङ्, मनः साम तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽम स्तत्साम ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्ग्, अथ यन्नीलं परःकृष्णं तत्साम। तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥४॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते, सैवर्क्, तत्साम, तदुक्थं, यद्यजुः, तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं, यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ, यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे, मनुष्य कामानाञ्चेति। तद् य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति, तस्मात् ते धनसनयः ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायति, उभौ स गायति, सोऽमुनैव, स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्ता ँश्चाप्नोति देवकामा ँश्च ॥ ७ ॥

अथानेनैव, ये चैतदस्मादर्वाञ्चो लोकास्ता ँ

आप्नोति, मनुष्यकामा ँ श्च । तस्मादुहैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीति, एष ह्येव काम गानस्येष्टे, य एतदेवं विद्वान् साम गायति, साम गायति ॥ ९ ॥

अब अध्यात्म (शरीर के सम्बन्ध में] कहते हैं। ऋचा वाणी है, साम प्राण* है । यह साम [वाणी] इसऋचा [प्राण] के सहारे है । इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है । सा वाणी है, अम प्राण है, यह साम है, [दोनों मिल कर साम बनाते हैं, सा+अम=साम] ॥ १ ॥

ऋचा आंख है, साम आत्मा (छायात्मा) है । यह साम [छाया] इस ऋचा [आंख] के सहारे है । इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा आंख है, अम आत्मा है । यह साम है ॥ २ ॥

ऋचा श्रोत्र है, साम मन है । यह साम [मन] इस ऋचा [श्रोत्र] के सहारे है । इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है, सा श्रोत्र है, अम मन है, यह साम है ॥ ३ ॥

अब यह जो आंख की श्वेत दीप्ति [चमक] है, यह ऋचा है, और जो यह नीला–अत्यन्त कालापन है यह साम है, यह साम [कालापन] इस ऋचा [श्वेतता] के सहारे है । इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है । सा आंख की श्वेत चमक है, अम नीला–अत्यन्त कालापन है, यह साम है ॥ ४ ॥

* जो नासिका में प्राण है अर्थात् प्राण (शंकराचार्य)।

अब यह जो आंख के अन्दर पुरुष दीखता है, वह ऋचा है, वह साम है, वह उक्थ है, वह यजु है, वह ब्रह्म है * । [यह जो आंख में पुरुष है] इसका वही रूप है, जो उस [आदित्यस्थ पुरुष] का रूप † है, जो [ऋक् और साम][आदित्यस्थ पुरुष] के जोड़ हैं, वह इसके जोड़ हैं, जो उसका नाम [उत्] है, वह इस का नाम है ॥ ५ ॥

यह [जो आंख में पुरुष है] उन लोकों का मालिक है, जो इस से नीचे हैं, और, मनुष्य की सारी कामनाओं का मालिक है। सो ये जो वीणा में गाते हैं, इसी को गाते है, और इसलिये वह धन लाभ करते हैं ॥ ६ ॥

वह जो इस (रहस्य] को इस प्रकार जानता हुआ साम गाता है, वह दोनो को (अधिदैवत और अध्यात्म आत्मा को,जो आदित्य मे पुरुष है,और जो अक्षि में पुरुष है, वस्तुतः जो दोनों एक है] गाता है। वह उस [आदित्यस्थ पुरुष) के द्वारा उस [सूर्य] से परले लोको को और देवताओं की कामनाओं को पा लेता है ॥ ७ ॥

और वह इस [अक्षिस्थपुरुष] के द्वारा, जो इस से निचले लोक हैं, उनको, और मनुष्य की कामनाओं को पालेता है ॥८॥

इसलिये वह उद्गाता जो इस प्रकार जानता है [उपासता है] वह [यजमान को] कह सक्ता है ॥ ८ ॥

---

* ऋचाका समुदाय शस्त्र, और साममन्त्रोंका समुदाय स्तोत्र है। उक्थ एक शस्त्र विशेष है ॥

† देखो छान्दो० उप० १ । ६। ६ ।

क्या कामना तेरे लिये गाउं [गाकर पूरी करूं] क्योंकि वह जो चाहे गाकर उसके पूरा करने के समर्थ होता है, जो यह इसप्रकार जानता हुआ साम गाता है, साम गाता है ॥ ९ ॥

यहां यह विचार उत्पन्न होता है, कि यह जो आदित्य और अक्षि में उपास्य पुरुष है, यह कौन है ? उत्तर यह है, कि वह नित्यसिद्ध परमेश्वर है। उसी की उपासना यहां भी और अन्यत्र भी सर्वत्र दिखलाई है ॥

(प्रश्न) यहां उपासना ईश्वर की नहीं, किसी और देवता की होसक्ती है, और उसके हेतु यह है—

(१) यहां उपास्य दो हैं, एक वह पुरुष जो आदित्य के अन्दर है, और दूसरा वह जो आख के अन्दर है सो यहां दो उपास्य हैं, और ईश्वर दो नहीं है ॥

(२) दोनों का ऐश्वर्य मर्यादा (हद) वाला है, 'यह (आदित्यस्थ पुरुष) उन लोकों का मालिक है, जो सूर्य से परे हैं, और देवताओंकी सारी कामनाओं का मालिक है' यह आदित्य में स्थित पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है। और 'यह उन लोकों का मालिक है, जो इस से नीचे हैं और मनुष्य की सारी कामनाओं का मालिक है' यह आंख में स्थित पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है, पर परमेश्वर के ऐश्वर्य की कोई हद नहीं वह सबका ईश्वर है (देखो बृह० आर० उप ४। ४। २२]

(३) यहां जो यह सूर्य के अन्दर पुरुष है, और जो यह आखके अन्दर पुरुष है, इन वचनों से दोनोंका अलग २ आधार बतलाया है। पर निराधार सर्वव्यापी परमेश्वर का कोई आधार नहीं बन सक्ता (देखो छान्दो० उप० ७। २। ४। १) ॥

(४) यहां दोनों का रूप दिखलाया हैं, 'सुनहरी दाढ़ीवाला' इत्यादि आदित्यस्थ पुरुष का रूप है, और अक्षिस्थ पुरुष का भी यही रूप कहा है, ' इसका वही रूप है, जो उसका रूप है ' इस वचन से। पर परमेश्वर का कोई रूप नहीं। इसलिये यहां सूर्य और आंखके अन्दर जो उपास्य पुरुष बतलाया है, वह परमेश्वर नहीं है ॥

(उत्तर) यह वर्णन केवल एक परमेश्वर का है, क्योंकि यहां जो धर्म बतलाए हैं, वह केवल उसी में घट सक्ते हैं, किसी दूसरे में नहीं॥

[१] आदित्यस्थ पुरुष का नाम उत् कह कर उसका निर्वचन यह किया है 'क्योंकि वह सारे पापों से ऊपर चढ़ा हुआ है ' और यही नाम फिर अक्षिस्थ पुरुष का बतलाया है, कि ' जो उसका नाम है, वही इसका नाम है' अब सारें पापों की पहुंच से परे होना यह केवल परमात्मा मे ही बन सक्ता है ॥

[२] अक्षिस्थ पुरुष के विषय में यह कहा है, कि 'वह ऋचा है, वह साम है, वह उक्थ है, वह यजु है, वह ब्रह्म है' [७ । ५ ।] यह बात केवल परमेश्वर में ही घट सक्ती है, क्योंकि सारे वेद उसीको बतलाते हैं ' सर्वे वेदायत् पदमामनन्ति [कठ० उप० २।१०] और 'इसीको ही ऋग्वेदी बड़े उक्थ में विचारते हैं,इसीको यजुर्वेदी अग्नि में उपासते हैं, इसीको सामवेदी महाव्रत में उपासते हैं ॥ [ऐत० आ० ३ । २ । २ । १२] ॥

[प्रश्न] यह तुम्हारा हेतु तब बन सक्ता, यदि यह कहा होता, कि ऋचा उसको बतलाती हैं, साम उसको बतलाते हैं, इत्यादि । पर यहां तो यह कहा है, कि वह ऋचा है, वह साम है, इत्यादि ॥

[उत्तर] ऋचा, साम, उक्थ आदि उसकी प्राप्ति के पूरे २ साधन है, और असंदिग्ध साधन हैं, इसलिये यहां ऋचा उसीको बोधन करती हैं, यह न कह कर 'वह ऋचा है' ऐसा कहा है ।

जिस साधन पर पूरा भरोसा हो, उसको साधन के तौर पर न कह कर साध्य के साथ एक बना देते हैं। जैसा वरुण ने भृगुको कहा है 'तपसे ब्रह्मके जाननेकी इच्छा कर, तप ब्रह्म है' इसी तरह यह और वचन है, [अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः] अन्न प्राण धारियों के प्राण हैं। सो यहां भी ऋचा आदि उसके सच्चे और पूरे साधन हैं, इसलिये कहा है कि वह ऋचा है, वह साम है, इत्यादि। इसलिये यह हेतु ठीक है॥

[३] यहां अधिदैवत में यह पांच ऋचा कही हैं, पृथिवी अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, औ सूर्यकी श्वेत दीप्ति। और यह पांच साम कहे हैं, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और सूर्यका अतिकृष्ण रूप। यह कह कर बतलाया है, कि ऋचा और साम उसके जोड़ हैं, अर्थात् पृथिवी आदि पांच जो ऋचा हैं, और अग्नि आदि पांच जो साम हैं, यह उसके जोड़ हैं। इसीतरह अध्यात्म में ये चार ऋचा कही हैं, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, और आंखकी श्वेतदीप्ति और ये चार साम कहे हैं, प्राण, छायात्मा, मन और आंखका अतिकृष्ण रूप। यह कह कर बतलाया है, कि जो उसके जोड़ हैं, वह इसके जोड़ हैं, अर्थात् वाणी आदि चार ऋचा और प्राण आदि चार साम ये इसके जोड़ हैं। सो ऐसा पुरुष जो सारे परिपूर्ण है, सब का अन्तरात्मा है, सब कुछ जिसका शरीर है, वह परमेश्वर ही हो सक्ता है, दूसरा नहीं॥

[४] सारे लोकों का और कामनाओं का मालिक होना भी ठीक २ रूप में परमेश्वर में ही बन सक्ता है, इत्यादि हेतुओं से यह वर्णन परमेश्वर का ही बन सक्ता है, किसी दूसरे का नहीं। और जो विरुद्ध हेतु तुमने दिखलाए हैं, उनका उत्तर यह कि यहां व्यष्टिरूप में ब्रह्म की उपासना है, ब्रह्म की यह महिमा

सूर्य द्वारा प्रगट होती है, उस महिमा को दिखलाते हुए सूर्य में उसकी उपासना बतलाई है, और जो महिमा आंख द्वारा प्रगट होती है, उस महिमा को दिखलाते हुए आंख में उसकी उपासना बतलाई है। इस लिये—

(१) यहां दो उपास्य नहीं, किन्तु एक ही उपास्य दो भिन्न२ दिव्य शक्तियों के अन्दर उपास्य बतलाया है।

(२) ऐश्वर्य की मर्यादा भी उपासना के लिये उसके व्यष्टि-रूप को लेकर बतलाई गई है।

(३) व्यष्टिरूप में उपासने के लिये ही दो भिन्न २ आधार बतलाए हैं, यह उसके स्वरूप के आधार नहीं, किन्तु उपासना के हैं, वह स्वरूप से निराधार ही है।

(४) यह पुरुष सूर्य का अन्तरात्मा है, और सूर्य उसका शरीर है, सूर्य सारा तेजोमय है, इस लिये उस पुरुष के सारे अंग सुनहरी [सोने की नाईं चमकते हुए तेजोमय] वर्णन किये हैं। और यह उस सूर्य का अधिष्ठाता मानकर पुरुष विशेष के रूप से वर्णन किया है। ऐसा वर्णन कविता का एक गुण है, इससे उसका वस्तुतः कोई रूप सिद्ध नहीं होता *।

इस लिये स्थानभेद से यहां एक ही परमेश्वर की उपासना अभिमत है, स्थानभेद से उपास्य के भेद की शंका, दोनों का एक ही रूप और एक ही नाम बतलाने से पूरी तरह मिटा दी है।

* यहां हमने संक्षेप से लिखा है। व्यष्टि और समष्टि का विषय वेदोपदेश में सविस्तर लिखा है। यहां वेदोपदेश, कठ की भूमिका, और तैत्तिरीय के पहले अनुवाक की व्याख्या को पूरी तरह एक बार ध्यान देकर पढ़लो। तब इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ेगा और आगे भी यह बहुत उपयोगी होगा। यहां व्यष्टि उपासना बहुत है, उनका रहस्य तभी समझ में आएगा।

उद्गाता जब उद्गीथ गाता है, तो वह यजमान के लिये वर मांगता है। पर वर मांगना कोई खेल की बात नहीं, और वह भी दूसरे के लिये। खाली कह देने से कुछ नहीं बनता, पहले अपने आप को इस योग्य बनाओ, कि तुम जो कुछ चाहते हो, उसका पूरा होना अटल हो। यह सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर तुम्हारे उस प्रेमभाव से आएगा, कि जो सारी कामनाओं का मालिक है, यदि उसके साथ एक होजाओगे। इस लिये यह उपनिषद् बतलाती है, कि उद्गाता को पहले उपासक बनना चाहिये उस अधिपति का, जो देवलोकों का और देवताओं की कामनाओं का मालिक है। और उसका, जो मनुष्यलोकों का और मनुष्यों की कामनाओं का मालिक है। जो उद्गाता इस अधिपति के प्रेम में रत है, और उद्गीथ गाते समय इसी को गाता है, वह उद्गाता यजमान को कहने के योग्य होता है, कहो तेरे लिये क्या कामना गाउं। क्योंकि वह जिस परमात्मा के गीत गाता है, वह उसकी बातको सुनता है।

आठवां खण्ड*

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः, शिलकः शालावत्य-श्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलि रिति। ते होचुः 'उद्गीथे वै कुशलाःस्मो, हन्तोद्गीथे कथां वदाम' इति।१।

तथेति ह समुपविविशुः। स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच 'भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति'। २।

---

* इन दोनों खण्डों का उद्देश्य भी एक ही है। यहां एक दूसरे प्रकार से उद्गीथ (ओम) की उपासना बतलाई है, जिसका फल बड़े से बड़े लोक और उच्च से उच्च जीवन लाभ करना है।

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच 'हन्त त्वा पृच्छानीति' 'पृच्छेति' होवाच । ३ ।

'का साम्नो गति रिति' 'स्वर' इति होवाच । 'स्वरस्य कागतिरिति' 'प्राण' इति होवाच । 'प्राणस्य का गतिरिति' 'आप' इति होवाच । ४ ।

'अपां का गतिरिति' 'असौ लोक' इति होवाच। 'अमुष्य लोकस्य का गतिरिति' । 'न स्वर्ग लोकमति नयेदिति' होवाच। 'स्वर्ग वयं लोक ँ सामाभिस ँ स्थापयामः, स्वर्गस ँस्ताव ँहि सामेति' । ५ ।

त ँ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच 'अप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम, यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मूर्धा ते विपतेदिति' ।६।

'हन्ताहमेतद् भगवत्तो वेदानीति' 'विद्धीति' होवाच । 'अमुष्य लोकस्य का गतिरिति' 'न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति' होवाच 'प्रतिष्ठां वयं लोकं सामाभिस ँस्थापयामः, प्रतिष्ठा स ँस्तावं हि ँसामेति' ७।

त ँ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ' अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम, यस्त्वेतर्हिब्रूयान्मूर्धाते विपतिष्यतीति, मूर्धाते विपतेदिति' । 'हन्ताहमेतद् भगवत्तो वेदानीति' विद्धीति' होवाच । ८ ।

एक वार तीन पुरुष जो उद्गीथ * में निपुण थे, शिलक शालावत्य (शलावत् का पुत्र), चैकितायन, दाल्भ्य † और प्रवाहण जैवलि (जीवल का पुत्र) उन्हों ने कहा, 'हम उद्गीथ में निपुण हैं, आओ हम उद्गीथ के विषय में विचार करें, ॥ १ ॥

'बहुत अच्छा' यह कह कर वह इकट्ठे बैठ गए। तब प्रवाहण जैवलि बोले, 'हे भगवन्तो ! आप दोनों पहले विचार करें, आप दोनों ब्राह्मणोंके विचार में मैं आपकी वाणी सुनाना चाहता हूं, ‡॥२।

तब शिलक शालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा, यदि अनुज्ञा हो तो पूछूं ॥

उसने कहा 'हां पूछो' ॥ ३ ॥

'साम § का आश्रय कौन है' ? उसने उत्तर दिया 'स्वर'।

'स्वर का आश्रय कौन है' ? उसने उत्तर दिया 'प्राण'।

प्राण का आश्रय कौन है' ? उसने उत्तर दिया 'अन्न'।

'अन्न का आश्रय कौन है' ? उसने उत्तर दिया 'जल' ॥४।

जलका आश्रय कौन है ? उसने उत्तरदिया 'वह(द्यौ)लोक ॥'

'उस लोक का आश्रय कौन है' ?

उसने उत्तर दिया (सामको) स्वर्गलोक से आगे नहीं लेजाना चाहिये

---

* उद्गीथ (ओम्) के रहस्यार्थ जानने में।

† चिकितायन का पुत्र और दल्भ्य गोत्री।

‡ प्रवाहण जैवलि क्षत्रिय राजा है (देखो छान्दो उप ।५। २) और यह ब्रह्मविद्या में एक बडा प्रगल्भ विद्वान् है, जो ब्राह्मणोंसे आगे बढ़ा हुआ है। यहां भी उसने अपनी वार्ता में उद्गीथ (ओम्) का जो असली अर्थ है वह प्रगट किया है, अर्थात् परब्रह्म।

§ यहां साम से अभिप्राय उद्गीथ है, क्योंकि उद्गीथका प्रकरण है और आगे भी (९।२। में) कहा है कि 'उद्गीथमुपासस्ते(शंकराचार्य

॥ ऋचाहीं स्वर विशेष के आश्रय साम कहलाती है. स्वर प्राण से बनता है, प्राण अन्न से, अन्न जल से उत्पन्न होता है जल द्यौसे आता –

इस स्वर्ग-लोक को साम ठहराते हैं, क्योंकि साम स्वर्ग के तौर पर स्तुति किया गया है *।५।

तब शिलकशालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा, 'हे दाल्भ्य! तेरा साम प्रतिष्ठा (दृढ़ स्थिति) वाला नहीं है। और यदि कोई (साम की प्रतिष्ठा का जाननेवाला) इस समय (जब तुम भ्रान्ति से बिना दृढ़स्थिति के सामको ठहरा रहे हो) कहे कि तेरा सिर गिर जाएगा, तो तेरा सिर अवश्य गिर जाए' ।६।

'अच्छा (दाल्भ्य ने कहा) तब, हे भगवन् अनुज्ञा हो, मैं आप से समझ लूं'। उसने (शिलकशालावत्य ने) कहा, 'हां समझो'॥

(उसने पूछा) उस (स्वर्ग) लोकका आश्रय कौन है'?

उसने उत्तर दिया 'यह लोक (पृथिवी)' †

और इस लोकका आश्रय कौन है'?

उसने उत्तर दिया '[सामको] प्रतिष्ठालोक [पृथिवीलोक] से आगे नहीं लेजाना चाहिये। हम सामको प्रतिष्ठालोकमें ठहराते हैं, क्योंकि सामकी प्रतिष्ठा के तौर पर स्तुति की गई है‡' ॥७॥

तब प्रवाहण जैवलि ने इस [शिलकशालावत्य] से कहा, हे शालावत्य! तेरा साम [पृथिवी] अन्तवाला है §। और यदि

---

*क्योंकि 'स्वर्गोवैलोको सामवेदः' सामवेद स्वर्गलोक है, इस श्रुति में सामवेद की स्वर्गलोक के रूप में स्तुति की है, (शंकराचार्य)

† सब भूतोंकी प्रतिष्ठा पृथिवी है और स्वर्गलोककी भी प्रतिष्ठ है। अग्नि में किये यज्ञ होमादि द्यौलोक को पुष्टि देते हैं॥

‡ 'इयवै रथन्तरम्' यहां रथन्तर सामकी पृथिवीके रूप में स्तुति की गई है (शंकराचार्य)

§ स्वर्गलोककी प्रतिष्ठा पृथिवीलोक पर है, इसलिये शालावत्य ने दाल्भ्य को कहा कि तेरा साम प्रतिष्ठावाला नहीं। यह कह कर उसने पृथिवीलोक को साम ठहराया। अब जैवलि शालावत्य को

कोई इस समय कहे कि तेरा 'सिर गिर जाएगा, तो तेरा सिर अवश्य गिरजाए' ॥

[शिलकशालावत्य ने कहा] 'अच्छा, तब हे भगवन् अनुज्ञा हो, मैं आपसे समझ लूं ॥

उसने कहा 'हां समझो' ॥ ८ ॥

नवां खण्ड

'अस्य लोकस्य कागतिरिति' 'आकाश' इति होवाच । 'सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम्' । १ ।

स एप परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः । परोवरीयो हास्य भवति ? परोवरीयसो ह लोकान् जयति यएतदेवं विद्वान् परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते । २ ।

तं हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच 'यावत् त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते, परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति । ३ ।

तथाऽमुष्मिंल्लोकेलोक इति' स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, परोवरीय एव हास्मिंल्लोके जीवनं भवति तथाऽमुष्मिंल्लोके लोक इति लोकेलोक इति । ४ ।

कहते हैं, कि तुम जिसको साम ठहराते हो, यह यद्यपि प्रतिष्ठा है, तथापि अन्तवाला है, इसलिये यह भी सामका असली अर्थ नहीं ॥

[शालावत्य ने पूछा] 'इस [पृथिवी] लोक का आश्रय कौन है'? उसने कहा 'आकाश' क्योंकि ये सारे भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं, और आकाश में लीन होते हैं। क्योंकि आकाश इन सबसे बड़ा है, आकाश [इन सबका] परम आश्रय है। १।

यह बड़े से बड़ा उद्गीथ [ओम्=ब्रह्म] है, यह बिना अन्त के है। वह जो इस प्रकार जानकर इस बड़े से बड़े उद्गीथ को उपासता है, वह उसको पालेता है, जो बड़े से बड़ा है, और उन लोकों को जीत लेता है जो बड़े से बड़े हैं। २।

अतिधन्वा शौनक [शुनक के पुत्र] ने [अपने शिष्य] उदरशाण्डिल्य को यह उद्गीथ बतलाकर कहा था, कि 'जब तक तेरे वंश में इस उद्गीथ को जानेंगे, तब तक उनका इस लोक में बड़े से बड़ा जीवन होगा'। ३।

'और उस [स्वर्ग] लोक में लोक होगा'

यह जो इस प्रकार उद्गीथ को जानता है, और उसको उपासता है, उसका इस लोक में जीवन निःसंदेह बड़े से बड़ा होता है, और उस लोक में लोक होता है, हां[उस]लोक में लोक होता है।४।

दाल्भ्य, और शालावत्य, ब्राह्मण और जैवलि, राजा ये तीनों जो उद्गीथविद्या में कुशल थे, इन्होंने विचार किया, कि उद्गीथ का परम आश्रय कौन है? उन में से दाल्भ्य का पक्ष यह था कि स्वर्ग लोक से आए हुए जलों से प्राण को जीवन मिलता है, और प्राण से उद्गीथ गाया जाता है, इस लिये उद्गीथ का परमआश्रय स्वर्गलोक है। इस पक्ष में अप्रतिष्ठा का दोष दिखलाकर शालावत्य ने यह सिद्ध किया, कि यह लोक कर्म द्वारा स्वर्ग का भी हेतु है इस लिये साम का परम आश्रय यह प्रतिष्ठालोक है। जैवलि ने इसमें अन्तवाला होनेका दोष दिखलाकर आकाश को साम का परम

आश्रय बतलाया है। आकाश यहां परमब्रह्म का नाम है, अथवा भूताकाश के अन्तर्यामी के तौर पर उसे आकाश कहा है (देखो वेदान्त० १।१।२२)

यहां साम के मूल का पता खोजते हुए आगे २ बढ़कर परब्रह्म तक पहुंचते हैं, इस लिये यह उद्गीथ परोवरीयस्=बड़े से बड़ा, कहलाता है। और इस गुण के सदृश ही इसकी उपासना का फल है।

दसवां खण्ड

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास । १ ।

सहेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे । त ँ होवाच । नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता' इति । २ ।

'एतेषां मे देहीति' होवाच । तानस्मै प्रददौ । 'हन्तानुपानमिति' 'उच्छिष्टं वै मे पीतंस्यादिति' होवाच । ३ ।

'नस्विदेतेऽप्युच्छिष्टा' इति । 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति' होवाच । 'कामो मे उदपानमिति'।४।

स ह खादित्वाऽतिशेषान् जायाया आजहार । साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान् प्रतिगृह्य निदधौ । ५ ।

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच । 'यद्बताऽन्नस्य लभेमहि, लभेमहि धनमात्रां, राजाऽसौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यै वृणीतेति, । ६ ।

तं जायोवाच 'हन्त पते ! इम एव कुल्माषा' इति। तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय । ७ ।

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश। स ह प्रस्तोतारमुवाच । ८ ।

'प्रस्तोतर् ! या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, तां चेद विद्वान् प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति'। ९ ।

एवमेवोद्गातारमुवाच 'उद्गातर् ! या देवतोद्गीथ मन्वायत्ता, तां चेदविद्वानुद्गास्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति'। १० ।

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच 'प्रतिहर्तर् ! या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति'। ते हसमारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ११।

※ जब ओलों [के पड़ने] से कुरुदेश [कुरुदेशों की खेतियें] मारे गए, तब उषस्ति चाक्रायण [चक्र का पुत्र] बड़ा तंगदस्त हुआ, अपनी कंवारी स्त्री के साथ इभ्य ‡ ग्राम में रहा । १ ।

---

* साम का जो भाग उद्गाता गाता है, उसे उद्गीथ कहते हैं, जो प्रस्तोता के गाने का है, उसे प्रस्ताव और जो प्रतिहर्ता के गाने का है, उसे प्रतिहार कहते हैं। यहां तक केवल उद्गीथ के देवता का विचार हुआ है। अब उसके साथ प्रस्ताव और प्रतिहार के देवता का भी विचार करते हैं।

† 'आटिकी' यह उषस्ति की स्त्री का नाम नहीं है। इसका अर्थ है, जो खुला घूमने के योग्य है। अभी छोटी अवस्था में है। एक युवति के लिये तंगी की हालत में बेघर होना अनुचित है। यही आशय शंकराचार्य और दूसरे व्याख्याकारों का है।

‡ इभ्यग्राम, महावतों का ग्राम; अथवा धनवानों का(शंकराचार्य)

उसने एक इभ्य को कुल्माष *खाते देखकर उससे भीख मांगी। इभ्य ने कहा 'मेरे पास और नहीं हैं, सिवाय इनके जो यह मेरे आगे धरे हुए हैं'। २।

उषस्ति ने कहा 'इन्हीं में से मुझे [खाने को] दो' उसने उसे दे दिये [और कहा] 'लो यह पानी पीने को है' उषस्ति ने कहा [यदि मैं इसमें से पिऊं, तो] मैं उसे पिऊंगा जो उच्छिष्ट [दूसरे का बचा हुआ है, झूठा] है। ३।

इभ्य ने कहा 'क्या ये [कुल्माष] झूठे [उच्छिष्ट] नहीं हैं'?

उसने उत्तर दिया '[नहीं, क्योंकि] मैं जीता न रहता, यदि मैं इनको न खाता, पर पानी पीने को मेरे लिये बहुतेरा है'। ४।

वह [उषस्ति] आप खाकर बाकी बचे हुए [कुल्माष] स्त्री के लिये लाया। पर उसे पहले ही अच्छी भिक्षा मिल चुकी थी, उनको लेकर उसने रख दिया। ५।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठते ही उषस्ति ने कहा 'शोक! यदि हमें कुछ थोड़ा सा अन्न मिल जाए, तो हमें कुछ थोड़ा सा धन मिल जाए [जिससे हमारा जीवन होसके] राजा वह एक यज्ञ करने लगा है, वह मुझे सारे ऋत्विक् के कामों के लिये चुन लेगा'६।

उसकी स्त्री ने उसे कहा 'लीजिये, हे पति! यही [तुम्हारे] कुल्माष हैं'। उनको खाकर वह उस फैलाए हुए यज्ञ में आया।७।

वहां वह, आस्ताव † में जो स्तुति करने को बैठे हुए थे, उन उद्गाताओं ‡ के पास बैठ गया। और उसने प्रस्तोता से कहा।८।

---

*कुल्माष, जौं का कोटा दले हुए जौं की खिचड़ी। अथवा एक अनाज

† आस्ताव जिस स्थान में बैठे हुए उद्गाता प्रस्तोता और प्रतिहर्ता अपना २ साम भाग गाते हैं।

‡ यद्यपि सामवेदी चार ऋत्विजों में से उद्गाता एक ऋत्विज् है। पर यहां 'उद्गातॄन्' उद्गाताओं, यह बहु वचन सारे सामवेदी

हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए प्रस्ताव गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिर जाएगा, *। ९।

ऐसे ही उसने उद्गाता को कहा 'हे उद्गातः ! जो देवता उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए उद्गीथ गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिर जाएगा'। १०।

ऐसे ही उसने प्रतिहर्ता को कहा 'प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए प्रतिहार गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिर जाएगा' †।

तब वह बन्द होगए और चुप चाप बैठ गए। ११।

ऋत्विजों के अभिप्राय से है। सोम यज्ञ में सोम भक्षण के प्रसंग में भी 'प्रोद्गातृणाम्' उद्गातृ शब्द का बहुवचन है। और उससे सारे सामवेदी लिये जाते हैं, यह मीमांसा० ३।५।२३-२६ में निर्णय किया है।

* खाने को पास अन्न नहीं, जूठा और बासी खाते फिरते हो, और यहां आकर इतने बड़े विद्वानों को तुमने हैरान कर दिया है। हे ऋषिजन! तुम्हारी महिमा तुम ही जानते हो, हमारी समझ में नहीं आता, कि क्यों इतने बड़े विद्वान् ने बहुत सा धन इकट्ठा न कर लिया, उस समय तो राज्य भी संस्कृत का ही था। पर तुम सचमुच हमें निरुत्तर कर देते हो, जब यह कहदेते हो, कि हम विद्या को बेचते नहीं थे, सबको मुफ्त देते थे, तभी तो इसदेशके राजा रंक सब के सब विद्यावान् होते थे।

† यदि प्रस्ताव के देवता को न जानता हुआ तू प्रस्ताव गाएगा, तो तेरा सिर गिर जाएगा, इससे यह नहीं जानना चाहिये, कि बिना रहस्यार्थ जाने किसी को ऋत्विज् नहीं बनना चाहिये, किन्तु विद्वान् के सामने अविद्वान् को कराने का अधिकार नहीं, इसी लिये आगे उपस्ति ने कहा है, (यदि तू देवता को बिना जाने कर्म कराता, तो तेरा सिर गिर जाता) 'जबकि मैंने ऐसा कह दिया था' हां विद्वान् की अनुज्ञा से अविद्वान् भी करा सकता है, जैसाकि यहां

ग्यारहवां खण्ड ।

अथ हैनं यजमान उवाच 'भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीति' 'उपस्तिरस्मि चाक्रायण' इतिहोवाच ।१।

स होवाच 'भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैशिषं, भगवतो वा अहमवित्त्या ऽन्यानवृषि' ।२।

भगवांस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति' 'तथेति' 'अथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवताम् । यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास ,तावन्मम दद्या' इति।'तथेति' ह यजमान उवाच।३।

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद। 'प्रस्तोतर् ! या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति ' मा भगवानवोचत् । ' कतमा सा देवतेति' ॥ ४ ॥

'प्राण' इति होवाच। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्, तथोक्तस्य मयेति' ॥ ५ ॥

भी आगे उपस्ति ने उनको कर्म कराने की अनुज्ञा दे दी थी। रहस्यार्थ जानने वालों से कराया हुआ कर्म बढ़कर फलवाला होता है, उसकी अपेक्षा से, जो मर्म के न जानने वालों से कराया गया है। (छान्दो० १।१।१०)। पर कर्म कर्ममात्र के जानने वाले से भी पूरा किया जासकता है। और इन्हीं के लिये दक्षिणमार्ग बतलाया है। और जो साथ रहस्यार्थ भी जानते हैं, उनके लिये उत्तरमार्ग है (शंकराचार्य)

अथ हैनमुद्गातोपससाद 'उद्गातर्! या देवतोद्गीथमन्वायत्ता, तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' मूर्धा ते विपतिष्यतीति' मा भगवानवोचत। 'कतमा सा देवतेति'॥६॥

'आदित्य' इति होवाच। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति, सैषा देवतोद्गीथ मन्वायत्ता' तां चेदविद्वानुदगास्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्, तथोक्तस्य मयेति' ॥ ७ ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद 'प्रतिहर्तर्! या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति' मा भगवानवोचत, 'कतमा सा देवतेति' ॥ ८॥

'अन्नमिति' होवाच। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति, सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान् प्रत्यहरिष्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्, तथोक्तस्य मयेति' ॥ ९ ॥

तब उसे यजमान ने कहा 'भगवन्! मैं आपको जानना चाहता हूं, (आप कौन हैं)' उसने उत्तर दिया, 'मैं उषस्ति चाक्रायण हूं' ॥१॥

उसने कहा 'भगवन्! मैंने ऋत्विजों के इन सारे कामों [पर दृष्टि रखने के लिये] के लिये आपको बहुत ढूंढा, पर आप के न मिलने से * मैंने दूसरों को चुना' ॥ २ ॥

* मिलते कहां से, कोई ठिकाना था। यह गुरुदारा सौभाग्य है, कि रात का बचा बचाया खाकर अपने आप आ पहुंचे हैं।

'तथापि हे भगवन् ! अब आप सारे ऋत्विज् के कर्मों को अपने हाथलें'।

उषस्ति ने कहा 'बहुत अच्छा; तो अब यही मेरी अनुज्ञा से स्तुति गाएं, पर जितना धन इनको दो, उतना मुझे दो *। यजमान ने कहा 'बहुत अच्छा' ॥ ३ ॥

तब प्रस्तोता (शिष्य के तौर पर) उसके पास आया, (और कहा) 'भगवन् ! आपने मुझे कहा है "हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए प्रस्ताव गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिरजाएगा" सो वह देवता कौनसा है' ॥४॥

उसने कहा 'प्राण'। क्योंकि ये सारे भूत प्राण में लीन होते हैं, और प्राण से निकलते हैं † यह देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है, यदि तुम इस देवता को न जानते हुए प्रस्ताव पढ़ते, तो तुम्हारा सिर गिरजाता, जब कि मैंने ऐसा कह दियाथा ॥ ५ ॥

तब उद्गाता उसके पास आया (और कहा) 'भगवन् ! आप ने मुझे कहा है "हे उद्गातः ! जो देवता ‡ उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए उद्गीथ गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिरजाएगा" सो वह कौनसा देवता है' ॥ ६ ॥

उसने कहा 'आदित्य (सूर्य)'। क्योंकि ये सारे भूत सूर्य को गाते हैं, जब वह ऊंचा होता है (उदय होता है)। यह देवता उद्गीथ

---

* सवेरे ही अभी जो कुछ खाकर आए हैं, वह ताजह २ याद है, पहले ही ठेका कर लिया है ॥

† यहां प्राण से अभिप्राय परमात्मा है, क्योंकि उसी से सारे भूत उत्पन्न होते और उसी में लीन होते हैं। देखो, वेदान्त० १।१।२३॥

‡ देवता से प्रायः व्यष्टि रूप में ब्रह्म का वर्णन होता है ॥

से सम्बन्ध रखता है। यदि, इस देवता को, विना जाने तुम उद्गीथ गाते, तो तुम्हारा सिर गिरजाता, जब कि मैंने ऐसा कह दिया था' ॥७॥

तब प्रतिहर्ता उसके पास आया (और कहा) 'भगवन् ! आपने मुझे कहा है "हे प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है, उसको, यदि तुम न जानते हुए प्रतिहार गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिरजाएगा" सो वह कोनसा देवता है' ॥ ८ ॥

उसने कहा 'अन्न'। क्योंकि ये सारे भूत अन्न को ही ग्रहण करते हुए [प्रतिहरमाणानि] जीते हैं। यह देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है यदि, इस देवता को विनाजाने तुम प्रतिहार गाते, तो तुम्हारा सिर गिर जाता, जब कि मैंने ऐसा कहदिया था' ॥ ९ ॥

उपस्ति का इतिहास बतलाता है, कि पुराने समय में छूतछात का बखेड़ा न था, केवल उच्छिष्ट को दोष मानागया था। जब महाव्रत ने उपस्ति को पानी दिया, तो उसने न पीने का हेतु केवल यही कहा है, कि यह उच्छिष्ट है। यह नहीं कहा, कि यह महाव्रतके घर का है।

दूसरा—वह धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं के मर्म जानते थे, उच्छिष्ट इसलिये दोष है, कि कुछ तो उसमें स्वाभवतः ही घृणा होती है, और भोजन वही पूरी पुष्टि देता है, जिसको देख कर चित्त प्रसन्न होजाए। घृणा से तो प्रत्युत उलटे फल की भी संभावना है। और दूसरा उच्छिष्ट से रोगों का सञ्चार भी होता है। और क्या यह मनस्विता के विपरीत भी नहीं है? कि हम दूसरे का बचा हुआ खाएं। इसलिये उच्छिष्ट को अभोज्य कहा है। अब उपस्ति के सामने भूखे मरकर प्राण देने का और इन दोषों की संभावना का मुकाबिला है। उसने मृत्यु से अपने आपको बचाया। ऐसे समय में पहला

और तीसरा दोष तो प्रायः उत्पन्न ही नहीं होता। रहा रोग का, वह भी संभावित है। और उसका प्रतीकार (इलाज) है, मृत्यु का प्रतीकार नहीं। इसलिये उपस्ति ने उच्छिष्टनिषेध के असली तात्पर्य को लिया, न कि शब्दों को। ऐसाही आचरण और भी ऋषियों ने किया है (देखो मनु० १०। १०५-१०८) इसी आशङ्का को निवृत्त करने के लिये वेदव्यास ने लिखा है:—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् (वेदान्त० ३। ४। २८) प्राणों की आशंका (खतरे) में हरएक अन्न के लिये अनुमति है, क्योंकि ऐसा देखागया है।

यहां 'देखागया है' से इशारा उपस्ति के जूठे और बासी भोजन की ओर है।

तीसरा—जूठा भोजन खाने पर भी जूठा पानी नहीं पिया। यह अपने आप को संभालना है। उपस्ति विपत्ति का मुकाबिला कररहा है। जिसका हृदय गिरजाता है, वह यह कह कर अपने आपको सन्तोष देलेता है, कि चलो अब क्या है, जब जूठा अन्नही खालिया, तो अब पानी बाकी रहगया। पर नहीं उपस्ति कहता है, पानी नहीं पिउंगा, क्योंकि यह जूठा है। ऐसे पुरुष की प्रकृति पर दोष अपना अधिकार नहीं जमासक्ते। उपस्ति के सामने अब कोई दोष आकर यह नहीं कह सक्ता, कि चलो अब तो तुम गिरगए, मुझे भी थोड़ी सी जगह दे दो। पर हां जो यह कह कर सन्तोष दे लेता है, कि 'अब क्या रहा' वह धीरे २ सारे दोषों का शिकार बनजाता है। मनुष्य को चाहिये कि जब वह विपत्ति में हो, तो उसको काटे, अपने आपको कभी न गिराए। और यदि विपत्ति में

:वा किसी दूसरे समय में उससे कोई त्रुटि होजाए, तो उसके साथ दूसरी त्रुटियों को ज़रा जगह न दे। त्रुटि को त्रुटि समझे, और सावधान होकर दृढ़ खड़ा हो, कि फिर कोई त्रुटि उसके सम्मुख न आए। ऐसा निराश होकर गिर न पड़े, जैसा कि आज कल इस जाति के लोग विपत्ति में वा भूल में भी विजाति के हाथ का खाकर ऐसा हाथ पाओं छोड़ कर गिरते हैं, कि अब वह और उन की सन्तानपरम्परा सदा के लिये उसी विजाति की जायदाद बन गई। उषस्ति को देखो, वह महावत का जूठा और वह भी बासी खाकर गया है और यज्ञ का अधिष्ठाता जा बना है, उसके ब्राह्मणत्व में कोई भेद नहीं आया। क्योंकि वह आप कायर नहीं बना। जिस तरह शत्रु का वार खाकर भी मुकाबिला कियाजाता है। इस तरह दोष की चोट खाकर भी मुकाबिला जारी रक्खो। दोष शत्रु है, उसके सामने कभी न झुको। चोट खाओ, तौभी उसको मार हटाओ, यही वीरता है।

बारहवां खण्ड

अथातः शौव उद्गीथः। तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्याय मुद्वव्राज। १।

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव, तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुः 'अन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा' इति। २।

तान् होवाच 'इहैव मा प्रातरुपसमीयातेति' तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार। ३।

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुः। ते ह समुपविश्य हिङ्चक्रुः। ४

ॐ३ मदा३ मों३पिवा ३ मों ३ दैवो वरुणः प्रजापतिः सविता२ऽन्नमिहा२ऽहरद५ न्नपते ३ ऽन्नमिहा२हरा २ऽऽ हरो३मिति । ५ ।

* अत्र शौव उद्गीथ कहते हैं। वक दाल्भ्य या ग्लाव मैत्रेय † स्वाध्याय के लिये बाहर (निर्जन स्थान में) गया ॥ १॥

---

* अन्न के न मिलने से उपस्ति को इतना कष्ट हुआ कि उच्छिष्ट और बासी अन्न खाने तक की दशा आई। यह अन्न का कष्ट न हो, इस प्रयोजन के लिये अन्न का साधन यह शौव उद्गीथ आरम्भ करते हैं।

† शंकराचार्य यहां बक दाल्भ्य और ग्लाव मैत्रेय एक ही व्यक्ति का नाम लेते हैं। बक प्रसिद्ध नाम है और दाल्भ्य (दल्भ्य की सन्तान) यह गोत्र नाम है। और उसीका दूसरा नाम ग्लाव है और मैत्रेय मित्रा का पुत्र। मित्रा उसकी माता का नाम है। एक के दो नाम और दो गोत्र होना स्मृतियों में बतलाया है। और लोक में भी यह चाल है कि एक का असली पुत्र है और दूसरा उसे अपना धर्म पुत्र बना लेता है। यह दिखलाकर फिर शंकराचार्य ने लिखा है अथवा यह दोनों नाम दो ऋषियों के हैं। क्योंकि पहले अर्थ में 'वा,या' का अर्थ ठीक नहीं बन सक्ता था। और यही बात यथार्थ प्रतीत होती है, इस में वा का अर्थ भी ठीक लग जाता है। और १।२। १३में जहां बकदाल्भ्य का पहले नाम आया है, उसके साथ 'ग्लावो वा मैत्रेयः' नहीं आया। और यहां यह इतना आवश्यक समझा है, कि दुबारा नाम देते समय भी 'ग्लावो वा मैत्रेयः' भुलाया नहीं। वस्तुतः यह बात उपनिषद् का संग्रह करने वाले को ठीक स्मरण नहीं रही, कि इन दोनों में से कौन एक था, उसे जैसा संदेह है, वैसा स्पष्ट लिख दिया है, कि यह बकदाल्भ्य था, या ग्लाव मैत्रेय था।

उसके लिये श्वा श्वेत प्रगट हुआ, और दूसरे श्वा उसके गिर्द इकट्ठे हुए, और कहने लगे 'भगवन्! हमारे लिये अन्न गाएं (गाकर लाभ करें) हम भूखे हैं' ॥२॥

श्वेत ने उनको कहा 'यहां ही कल सवेरे मेरे पास आओ'। वक दाल्भ्य या ग्लाव मैत्रेय ने इस बात को पूरे ध्यान से देखा ॥३॥

अब जैसे बहिष्पवमान स्तोत्र * से स्तुति करने लगते हैं, तो [सारे ऋत्विज्] एक दूसरे को पकड़े हुए [आगे पीछे] चलते हैं, ठीक इसी तरह वह [एक दूसरे के पीछे होकर] चले। फिर वह मिल कर बैठगए, और हिं † किया। ४।

'ओम्' हम खाएं। ओम्, हम पियें! ओम्, देव वरुण, प्रजापति, सविता ‡ हमारे लिये अन्न लाए! हे अन्न के मालिक अन्न लाओ, लाओ, ओम्। ५।

यह श्वेतश्वा और दूसरे श्वा कौन हैं इस पर शंकराचार्य लिखते हैं, कि श्वा अर्थात् कुत्ता। और वह लिखते हैं, कि बक-दाल्भ्य वा ग्लाव मैत्रेय अन्न की कामना से स्वाध्याय किया करता था। उसके स्वाध्याय से प्रसन्न होकर देवता या ऋषि श्वेत कुत्ते का रूप धारण करके (और दूसरे देवता वा ऋषियों दूसरे

---

* साम उ० के १। १।१ से १। १। ३ तक, यह तीन सूक्त (जो तीन २ ऋचा के हैं) मिलकर बहिष्पवमान स्तोत्र कहलाता है।

† सामवेदी स्तोत्रविशेष का आरम्भ करते समय जो तीन बार हिं हिं हिं कहते हैं। यह हिंकार अर्थात् हिं करना कहलाता है।

‡ सविता=उत्पन्न करने वाला (सब का) अर्थात् सूर्य। वरुण और प्रजापति भी उसी को कहा है। वरुण=वर्षा करने वाला प्रजापति=प्रजा का रक्षक। और वह अन्नपति इस लिये है कि अन्न को उत्पन्न करता है और पकाता है (शंकराचार्य)।

कुत्तों का रूप धारण करके—आनन्दगिरि) उसकी भलाई के लिये प्रगट हुए। और इस तरह पर उन्होंने दिखला दिया, कि अन्नप्राप्ति के लिये वैदिक विधि यह है। इसके पीछे शंकराचार्य ने फिर एक और पक्ष दिखलाया है, कि ऋषि के स्वाध्याय से प्रसन्न होकर मुख्य प्राण ने और वाणी आदि इन्द्रियों ने [जो प्राण के सहारे अन्न खाती हैं] कुत्तों का रूप धारण करके उस पर अनुग्रह किया। और इस दूसरे पक्ष की समाप्ति का वचन यह कहा है, 'युक्तमवं प्रतिपत्तुम्' अर्थात् ऐसा जानना युक्त है। इससे प्रतीत होता है, कि यह दूसरा पक्ष स्वामी शंकराचार्य का निज सम्मत है। और ऐसाही आनन्दगिरि ने लिखा है। संभव है, कि पहली कल्पना शंकराचार्य से पहले किसी व्याख्याकार की हो, और दूसरी उनकी अपनी। अस्तु दोनो कल्पनाओं में कुत्ते असली रूप में माने गए हैं। और इसी लिये जब उनके जलूस (Procession) का वर्णन आया, तो यह आशङ्का उठी, कि उन का जलूस ठीक बहिष्पवमान के जलूस की तरह कैसे बन सक्ता है, क्योंकि उसमें ऋत्विज् एक दूसरे का वस्त्र पकड़कर चलते हैं. तो इसको इस तरह ठीक किया गया है, कि कुत्ते एक दूसरे की पूंछ को अपने मुंह में पकड़कर चले।

आश्चर्य है कि यह कल्पनाएं कितनी दूर तक पहुंच गई हैं, पर उनकी तह में केवल एक दो शब्द के सिवाय कुछ नहीं। यह विधि जिन लोगों ने की, उनकी जाति श्वा है न कि वह कुत्ते थे। रामचन्द्र के सहायक वानर थे, और जनमेजय के विरुद्ध लड़नेवाले नाग। इन दोनों जातियों के नाम को लेकर भी अनेक कल्पना हुई हैं, पर इतिहास ने सिद्ध कर दिया है, कि ये दोनों मानुषी जातियां थीं। और ऐसा ही माना जा सक्ता है। अब भी बहुत सी जातियां वृक्ष, अनाज, पशु और पक्षियों के नाम पर हैं। और यह नाम

उनके अपने चुने हुए ही नहीं होते, किन्तु दूसरे लोग उनके लिये किसी न किसी हेतु से चुन लेते है। इस लिये यह आक्षेप नहीं रहता, कि ऐसा नाम ही क्यों पसन्द किया गया *। श्वा शब्द के सिवाय दूसरी बात शंकराचार्य ने यह लिखी है, कि यह एक दूसरे की पूंछ को मुंह में पकड़कर चले। पर इनके लिये एक भी शब्द उपनिषद् के अक्षरों में नहीं है। केवल यही लिखा है, कि बहिष्पवमान के सदृश जलूस निकाला और फिर इकट्ठे बैठकर अपनी कामना का मन्त्र गाया। यह मन्त्र सामसंहिता के अन्दर नहीं। और यह विधि भी स्वतन्त्र है, इस लिये यहां इसका पूरा इतिहास देना उचित समझा गया है। इसको शौव उद्गीथ इसी लिये कहते हैं, कि इसके द्रष्टा श्वा हैं (श्वभिः दृष्टः शौवः)।

दो शब्द और हैं, जिनका आशय खोलना आवश्यक है 'तस्मै, प्रादुर्बभू' उसके लिये, प्रगट हुआ। यदि यह श्वा मनुष्य विशेष होते, तो उसके पास आया कहना चाहिये था, न कि उसके लिये प्रगट हुआ। प्रगट होना, छिपे हुए का होता है।

पर यहां कोई कठिनाता की बात नहीं, यह शब्द कृतज्ञता का प्रकाश करते हैं। ऋषि स्वाध्याय के लिये उस स्थान में गया था, जहां मनुष्यों का वास न था। वहां उसे अचानक एक ऋषि का दृष्टि पड़ना और फिर उससे एक अपूर्व विद्या का बिना यत्न लाभ होना जो उसके लिये बड़ी उपयोगी थी। यही उसके लिये उसका प्रगट होना है। हम भी कृतज्ञ होकर ऐसा ही कहा करते हैं।

---

* मुझे कुछ उन लोगों से परिचय है, जिनको 'कुत्ते शाह' कहते हैं, और वह स्वयं भी अपने आपको यही बताते हैं।

तेरहवां खण्ड *

अयं वाव लोको हाउकारो, वायुर्हाइकारश्, चन्द्रमा अथकार, आत्मेहकारो,ऽग्निरीकारः । १ ।

आदित्य ऊकारो, निवह एकारो, विश्वेदेवा औहोइकारः, प्रजापतिर्हिङ्कारः, प्राणः स्वरो, ऽन्नं या, वाग् विराट् । २ ।

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चरो हुंकारः । ३ ।

दुग्धेऽस्मै वाग् दोहं, यो वाचो दोहः । अन्नवानन्नादो भवति, य एतामेव * साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति । ४ ।

'हाउ' † यह [पृथिवी] लोक है, 'हाइ ‡ वायु है' 'अथ' चन्द्रमा है, 'इह' आत्मा है, 'ई' § अग्नि है। १ ।

---

*साम मन्त्रों के गाने में गाने को पूरा रखने के लिये बीच२ में जो अक्षरगाए जाते हैं, जो ऋचा के अन्दर नहीं होते, जैसे-हाउ, हाइ,औहोहाइ, इत्यादि। इन अक्षरों को स्तोभाक्षर कहते हैं। यहां पूर्व उद्गीथ प्रस्ताव आदि का विषय समाप्त करके अब, उनके गाने में जो स्तोभाक्षर आते हैं, यहां प्रपाठक की समाप्ति में उनका रहस्य बतलाकर इस विषय को समाप्त करते हैं ।

† हाउ, स्तोभ रथन्तर साम में आता है, और रथन्तर साम को पृथिवी कहा है 'इयंवैरथन्तरः' यह सम्बन्ध हाउ का पृथिवी से है (शंकराचार्य)

‡ हाइ, स्तोभ वामदेव्य साम में आता है।

§ जो साम अग्नि सम्बन्धी है, 'ई' उनके निधन के तौर पर आता है।

'ऊ' सूर्य है, 'ए' बुलावा [आवाहन] है, 'औहो इ' * विश्वेदेव हैं, 'हिं' प्रजापति है, स्वर † प्राण है, 'या' अन्न है, वाग् ‡' विराट् है । २ ।

तेरहवां फैलाहुआ स्तोभ 'हुं' अनिरुक्त [जिसका निर्वचन नहीं होसक्ता] अर्थात् परब्रह्म है । ३ ।

वाणी स्वयं उसके लिये दूध झरती है, जो वाणी का दूध है, और वह अन्न वाला [धनी] और अन्न खाने के योग्य (दृढ़) बनता है, जो इस प्रकार साममन्त्रों की इस उपनिषद् को जानता है, हां उपनिषद् को जानता है । ४ ।

दूसरा प्रपाठक

पहला खण्ड ।

समस्तस्य खलु साम्न उपासनँ साधु, यत् खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते; यदसाधु तदसामेति । १ ।

तदुताप्याहुः 'साम्नैनमुपागादिति' साधुनैन मुपागादित्येव तदाहुः । 'असाम्नैन मुपागादिति' असाधुनैन मुपागादित्येव तदाहुः । २ ।

अथोताप्याहुः 'साम नो बतेति' यत्साधु भवति, साधुबतेत्येवतदाहुः 'असाम नो बतेति' यदसाधु भवति, असाधु बतेत्येव तदाहुः । ३ ।

---

* औहोइ, स्तोभ वैश्वदेव्य साम में आता है ।

† देखो 'छान्दो० उप० १ । ४ । ४

‡ वाग्स्तोभ वैराज साम में आता है । विराट् से विराट् का अन्न अभिप्रेत है (शंकराचार्य)

स य एतदेवं विद्वान् साधुसामेत्युपास्ते, ऽभ्याशो ह यदेन ँ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः । ४ ।

*सारे साम की उपासना [बतलाते हैं] वह साधु है [अर्थात् समस्त साम को साधुदृष्टि से † उपासना चाहिये] । [क्योंकि लोक में] जो वस्तु अच्छी होती है, उसे साम कहते हैं, और जो अच्छी नहीं होती, उसे असाम कहते हैं । १ ।

और [लोक में] ऐसा भी कहते हैं 'साम से उसने इसे गाकर सुनाया' अर्थात् बड़ी सुन्दरता से इसे गाकर सुनाया । और 'असाम से उसने इसके पास गाया' अर्थात् असुन्दरता से इसके पास गया, यही इन वचनों का अभिप्राय है । २ ।

और जब उनके लिये कोई बात भली होती है, तो वह कहते है, कि 'वास्तव में यह हमारे लिये साम है' अर्थात् हमारे लिये भला है । और जब भली नहीं होती, तो कहते हैं, कि यह हमारे लिये साम नहीं है, अर्थात् भला नहीं है, । ३ ।

जो इसे इस प्रकार जानता हुआ साम को साधु के तौर पर उपासता है, जल्दी ही साधु धर्म [अच्छे गुण कर्म] उसके पास आएंगे, और उसके लिये झुक जाएंगे ॥ ४ ॥

दूसरा खण्ड ।

लोकेषु पञ्चविधं ँ सामोपासीत । पृथिवी हिङ्कारोऽग्निः

---

* पहले प्रपाठक में साम के विशेषभागों की उपासना और उनके रहस्यार्थ वर्णन किये हैं । अब यहां सबकुछ सारे साम के विषय में बतलाते हैं ।

† अर्थात् सारे साम को साधु ध्यान करना चाहिये । साधु, अच्छा, नेक, नेकी, भला, भलाई ।

प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम् । इत्यूर्ध्वेषु । १ ।

अथावृत्तेषु-द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् । २ ।

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च, य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते । ३ ।

लोकों के विषय में पांच प्रकार * के साम को उपासे † । पृथिवी हिङ्कार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, सूर्य प्रतिहार है, द्यौ निधन है। यह ऊपर को चढ़ते हुए लोकों के विषय में [साम की उपासना है] । १ ।

अब नीचे उतरते हुए लोकों के विषय में [साम की उपासना बतलाते है] द्यौ हिङ्कार है, सूर्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है, पृथिवी निधन है । २ ।

वह जो यह ठीक २ जानकर लोकों के विषय में पांच प्रकार

---

* साम के पांच प्रकार जो यज्ञ में प्रयोग किये जाते हैं, यह हैं, हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन । इन पांचों को साम की पांच भक्तियें (हिस्से) कहते हैं । और साम इनसे पांच-भक्तिक कहलाता है । अब यहां इनके विषय में उपासना और उनके अलग २ फल बतलाते हैं । इन पांचों भक्तियों को अलग २ रूप में उपासते हुए समस्त साम को साधु दृष्टि से उपासना चाहिये ।

† यहां साम के जो पांच भाग हैं, उनको यज्ञ में लोक, वृष्टि, ऋतु, पशु और प्राणों की दृष्टि से उपासना चाहिये, अर्थात् हिङ्कार को पृथिवी की दृष्टि से देखें, न कि पृथिवी को हिङ्कार की दृष्टि से, क्योंकि यज्ञ का अंग हिङ्कार आदि हैं । (शंकराचार्य)

के साम को उपासता है, उसके लिये ऊपर को चढ़ते हुए और नीचे को उतरते हुए लोक [उपभोग देने के] समर्थ होते हैं * । ३ ।

तीसरा खंड ।

वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपासीत । पुरोवातो हिङ्कारः, मेघो जायते स प्रस्तावः, वर्षति स उद्गीथः, विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनम् । वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २॥

वृष्टि के विषय में पांच प्रकार के साम को उपासे । पूर्वी वायु (जो वादलों को लाता है) हिङ्कार है, वादल का बनना प्रस्ताव है, बरसना उद्गीथ है, चमकना और गर्जना प्रतिहार है ।१। बन्द होना निधन है । वह, जो यह ठीक २ जान कर वृष्टि के विषय में पंचविध साम को उपासता है, उसके लिये(अपने आप) बरसता है और वह दूसरों के लिये बरसाता है ॥ ३ ॥

चौथा खण्ड ।

सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपासीत । मेघो यत् सम्प्लवते स हिङ्कारः, यद्वर्षति स प्रस्तावः, याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथः, याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः, समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

न हाप्सुप्रैति, अप्सुमान् भवति, य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २ ॥

---

* इसलोक से द्यौको जाते समय ऊपर २ के लोक और द्यौ से नीचे को आते समय नीचे २ के लोक उसके लिये भोगदेते हैं (शंकराचार्य)

सारे पानियोंके विषय में पञ्चविध साम को उपासे। मेघ की घटा का उठना हिङ्कार है, बरसना प्रस्ताव है, जो पूर्व को बहती हैं, यह उद्गीथ है, जो पश्चिम को बहती हैं, * यह प्रतिहार है। समुद्र निधन है ॥ १ ॥

वह जो यह ठीक २ जान कर पञ्चविध सामको सारे जलों के विषय में उपासता है, वह पानियों में नहीं मरता है, और पानियों में अमीर होता हैं ॥ २ ॥

पांचवां खण्ड।

ऋतुषु पञ्चविध ँ सामोपासीत। वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

कल्पन्ते हास्मै ऋतव ऋतुमान् भवति, य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २ ॥

ऋतुओं के विषय में पञ्चविध साम को उपासे। बसन्त हिङ्कार है, गर्मी प्रस्ताव है, बरसात उद्गीथ है शरद (असूज, कातिक) प्रतिहार है, हेमन्त निधन है ॥ १ ॥

वह जो इसे ठीक २ जानता हुआ ऋतुओं के विषय में पञ्चविध सामको उपासता है, उसके लिये सारी ऋतुयें समर्थ होती हैं, (भोग देने के), और वह ऋतुओं में अमीर (ऋतुओंके अच्छे पदार्थों से युक्त) होता है ॥ २ ॥

---

* पूर्व को गङ्गा आदि नदियें बहती हैं और पश्चिम को नर्मदा आदि (आनन्दगिरि)

छठा खण्ड

पशुषु पञ्चविध ँ सामोपासीत । अजा हिङ्कारो, ऽवयः प्रस्तावो,गाव उद्गीथो,ऽश्वाः प्रतिहारः,पुरुषो निधनम् ।१।

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति, यएतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते । २ ।

पशुओं के विषय में पञ्चविध सामको उपासे। बकरियें हिङ्कार हैं, भेड़े प्रस्ताव हैं, गौएं उद्गीथ हैं । घोड़े प्रतिहार हैं, पुरुष निधन है । १ ।

वह, जो यह ठीक २ जानता हुआ पशुओं के विषय में पञ्चविध साम को उपासता है, उसके पशु होते हैं, और वह पशुओं में बड़ा अमीर होता है । २ ।

सातवां खण्ड

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । प्राणो हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम् । परोवरीया ँ सि वा एतानि ।१।

परोवरीयो हास्य भवति,परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति, य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते। इति तु पञ्चविधस्य । २ ।

प्राणों (इन्द्रियों) के विषय पञ्चविध साम को उपासे, जो (साम) बड़े से बड़ा है। प्राण *हिङ्कार है, वाणी प्रस्ताव है, आंख उद्गीथ है। श्रोत्र प्रतिहार है, मन निधन है । ये हैं एक दूसरे की अपेक्षा से बड़े।

* प्राण से यहां नासिक्य प्राण अर्थात् घ्राण अभिप्रेत है, मुख्य प्राण नहीं । क्योंकि यहां क्रमशः एक दूसरे से बड़े इन्द्रिय बतलाए हैं॥

जो यह ठीक२ जानता हुआ प्राणों (इन्द्रियों) में पञ्चविध सामको उपासता है, वह उसका स्वामी होता है, जो कुछ बड़े से बड़ा है, और वह बड़े से बड़े लोकों को जीतता है। यह है पञ्चविध साम की (उपासनाएं) ॥ २ ॥

आठवां खण्ड

अथ सप्तविधस्य—वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत। यत् किञ्च वाचो हुं इति स हिङ्कारः, यत्प्रेति स प्रस्तावः, यदेति स आदिः ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथः, यत्प्रतीति स प्रतिहारः, यदुपेति स उपद्रवः, यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं, योवाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति, य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविधꣳसामोपास्ते ।३।

अब सप्तविध * (सात प्रकार के सामकी उपासनाएं कहते हैं) वाणी में सप्तविध सामको उपासे। वाणी में जहां कहीं † 'हुं' आता है, वह हिङ्कार है, जो 'प्र' है, वह प्रस्ताव है, जो 'आ' है, वह आदि है (प्रथम है, ओम् है) ॥ १ ॥

जो 'उत्' है, वह उद्गीथ है, जो 'प्रति' है, वह प्रतिहार है, जो 'उप' है, वह उपद्रव है, जो 'नि' है, वह निधन है ॥२॥

---

* पूर्व जो प्रत्येक सामगान के पांच भाग बतलाए हैं, उनके साथ दो भाग और मिलाने से सात होते हैं, वह दो यह हैं, आदि और उपद्रव। आदि सब से पहला अर्थात् ओम् है। इन सातों भागों से साम साप्तभक्तिक कहलाता है। पाञ्चभक्तिक साम की उपासना के साथ अब यह साप्तभक्तिक साम की उपासना बतलाते हैं॥

† अर्थात् सारे वाङ्मय में जो 'हु' है, वह हिङ्कार है, जो 'प्र' है वह प्रस्ताव है, इत्यादि।

वाणी उसके लिये स्वयं दूध झरती है, जो वाणी का दूध है, और वह अन्न में बड़ा अमीर और अन्न खाने के योग्य होता है ‡ ३।

नवां खण्ड

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत। सर्वदा समस्तेन साम; मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात, तस्य यत् पुरोदयात् स हिङ्कारः। तदस्य पशवोऽन्वायत्ताः। तस्मात् ते हिङ्कुर्वन्ति, हिङ्कारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

अथ यत् प्रथमोदिते स प्रस्तावः। तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः। तस्मात् ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः, प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

अथ यत् सङ्गववेलायाꣳ स आदिः। तदस्य वयाꣳस्यन्वायत्तानि। तस्मात् तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्ति, आदिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

अथ यत् सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथः। तदस्य देवा अन्वायत्ताः। तस्मात् ते सत्तमाः प्राजापत्यानाम्, उद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

---

‡ पूर्व देखो १।३।७, १।१३।४॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात् प्रागपराह्णात्, स प्रतिहारः। तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः। तस्मात् ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते, प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥६॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात् परागस्तमयात् स उपद्रवः, तदस्यारण्या अन्वायत्ताः, तस्मात् ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्ष ँ श्वभ्रमित्युपद्रवन्ति। उपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ७॥

अथ यत् प्रथमास्तमिते तन्निधनं, तदस्य पितरोऽन्वायत्ताः, तस्मात् तान्निदधति, निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्नः। एवं खल्वमुमादित्य ँ सप्तविध ँ सामोपास्ते॥ ८॥

वह (द्यौलोक में) जो सूर्य है, उसकी दृष्टि से सप्तविध साम को उपासे। क्योंकि वह सर्वदा सम रहता है; और कि, प्रत्येक पुरुष समझता है, कि वह मेरे लिये है, वह मेरे लिये है, इस प्रकार वह सब के साथ सम है। इसलिये वह साम * है॥

यह जानना चाहिये, कि ये सारे प्राणधारी उसी पर निर्भर रखते हैं। उसका जो रूप उदय से पहले है, वह हिङ्कार है। इस पर पशु निर्भर रखते हैं। इसलिये वह (पशु) (सूर्योदय से पहले) हिं † करते हैं, क्योंकि वह इस साम (सूर्य) के हिंकार के भागी (हिस्सेदार) हैं॥ २॥

---

* अर्थात् सूर्य सर्वदा सम है, या सबके लिये सम है। इस लिये उसे साम कहते हैं। सम से साम है॥

† गौएं प्रायः प्रभाते ऐसी ही ध्वनि करती हैं॥

और पहले पहल उदय होतेही जो उसका रूप है, वह प्रस्ताव है। उसके इसरूप पर मनुष्य निर्भर रखते हैं। इसलिये मनुष्य बड़ी स्तुति (प्रस्तुति, प्रस्ताव) और प्रशंसा को चाहते हैं, क्योंकि वह इस साम (सूर्य) के प्रस्ताव के भागी हैं ॥ ३ ॥

अब जो इसका रूप सङ्गव*के समय पर है, वह आदि (प्रथम, ओम्) है, उसके इस रूप पर पक्षी निर्भर रखते हैं। इसलिये पक्षी आकाश में विना किसी सहारे के अपने आपको थाम कर (आदाय) उड़ते फिरते हैं, क्योंकि वह इस साम (सूर्य) के आदि (ओम्) के भागी हैं ॥ ४ ॥

अब जो उसका रूप ठीक दुपहर के समय है,वह उद्गीथ है। उसके इस रूप पर देवता निर्भर रखते हैं (क्योंकि वह चमकनेवाले हैं), इसलिये वह प्रजापति की सन्तान में से सब से उत्तम हैं। क्योंकि वह इस साम के उद्गीथ के भागी हैं ॥ ५ ॥

अब जो इसका रूप दुपहर से पीछे और पिछले पहरसे पहले है, वह प्रतिहार है। उसके इस रूप पर गर्भ निर्भर रखते हैं। इस लिये वह गर्भ में स्थित हुए (प्रतिहृताः) गिर नहीं पड़ते, क्योंकि वह इस साम के प्रतिहारके भागी हैं ॥ ६ ॥

अब जो इसका रूप पिछले पहर से पीछे और अस्त होने से पहले है, वह उपद्रव है। उसके इस रूप पर जंगली पशु निर्भर रखते हैं। इसलिये जब वह किसी पुरुषको देखते हैं, तो वह जंगल

* सङ्गव, जब सूर्य रश्मियों को ग्रहण करता है। और जब गौएं बछड़ों से मिलती हैं। दूध दुह कर जब बछड़ों को दूध पीने के लिए खोल दिया जाता है॥

को अपनी गुराक्षित छिपने की जगह मान कर भाग जाते हैं (उपद्रवन्ति), क्योंकि वह इस सामके उपद्रव के भागी हैं ॥ ७ ॥

अब जो इसका रूप पहले पहले अस्त होने के समय है, वह निधन है। उसके इस रूप पर पितर निर्भर रखते हैं। इसलिये उन को नीचे रखते हैं* (निदधति) क्योंकि वह इस सामके निधन के भागी हैं। इस प्रकार पुरुष इस सूर्य की दृष्टि से सप्तविध साम को उपासता है ॥ ८ ॥

दसवां खण्ड

अथ खल्वात्मसम्मित मतिमृत्यु सप्तविध ँ सामोपासीत । हिंकार इति त्र्यक्षरम्, प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं, तत् समम् ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं, प्रतिहार इति चतुरक्षरं। तत इहैकं, तत्समम् ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरम्, उपद्रव इति चतुरक्षरम्। त्रिभि स्त्रिभिः समं भवत्यक्षर मतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत् समम् ॥ ३ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति। तानि ह वा एतानि द्वावि ँ शतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

एकवि ँ शत्याऽऽदित्यमाप्नोति, एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः। द्वावि ँ शेन परमादित्याज्जयति, तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

---

* कदाचित् मरने के पीछे पितर ही इसके ये अभिलाषी हों। उनके लिये पिण्ड देते हैं (शंकराचार्य)॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजया ज्जयो भवति, य एतदेवं विद्वानात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविध ् सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

उस सप्तविध सामको उपासे जो अपने आप में बराबर * है और जो मृत्यु से पार ले जाने वाला है ॥

हिङ्कार शब्द तीन अक्षरवाला है, प्रस्ताव शब्द तीन अक्षर वाला है, वह सम (बराबर) है † ॥ १ ॥

आदि शब्द दो अक्षरवाला है, प्रतिहार शब्द चार अक्षर वाला है, उस से एक (अक्षर जो तीनसे अधिक है) यहां (आदि-में डाला, तब) वह सम है ॥ २ ॥

उदगीथ तीन अक्षरवाला है, उपद्रव चार अक्षरवाला है, तीन तीन से सम होता है, एक अक्षर बच रहता है, इस तरह यह तीन अक्षरवाला है, वह सम है ॥ ३ ॥

निधन तीन अक्षरवाला है, वह सम ही है । सो यह बाईस अक्षर हैं ॥ ४ ॥

इक्कीस अक्षरों से वह (उपासक) सूर्य (मृत्यु) को पहुंचता है, क्योंकि वह सूर्य यहां से इक्कीसवां है, और बाईसवें अक्षर से

---

* आपस में एक दूसरे के बराबर अर्थात् भिन्न २ साम भक्तियों की अक्षरों की संख्या आपस में एक दूसरे के बराबर (सम) है, इसलिये वह साम है। क्योंकि वह सम है ॥

आत्म सम्मितम, आपस में एक दूसरे के सम, अथवा पर-ब्रह्म के सम है, क्योंकि मृत्यु की जय का हेतु है, (शंकराचार्य)

† तीन अक्षर हि-ङ्का-र ये है, और तीनही प्र-स्ता-व यह हैं। इस तरह से आपस में सम हैं ।

वह उसको जीतता है जो सूर्य से परे है, और वह दुःख से रहित (स्थान) है, वह शोक से रहित है * ॥ ५ ॥

वह सूर्य (मृत्यु) पर विजय पालता है, और सूर्यके विजय से परे जो विजय है, वह भी उसका होता है, जो इसे ठीक २ जानता हुआ, आपस में बराबर और मृत्यु † से पार ले जानेवाले सप्तविध साम को उपासता है, हा सामको उपासता है ॥ ६ ॥

ग्यारहवां खण्ड ‡ ।

मनोहिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः । प्राणो निधनम् । एतद् गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतद् गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद, प्राणी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया

---

* यह जो अक्षर बच रहता है, यही बाईसवां है और सारे सात बार तीन २ अक्षर मिल के इक्कीस बनते हैं ॥

'बारह महीने पांच ऋतु (यहां हेमन्त और शिशिर को एक करके पांच कहे हैं) तीनलोक और यह सूर्य इक्कीसवां है, यह श्रुति है (शंकराचार्य) ॥

† सूर्य मृत्यु है, क्योंकि दिन रात आदि काल के द्वारा जगत् का मारनेवाला है । इसके तैर जाने के लिये यह सामोपासन उपदेश किया है ॥

‡ यज्ञ सम्बधी समस्त साम के रहस्यार्थ कह दिये हैं, जो केवल ध्यान से सम्बन्ध रखते हैं, अब आगे भिन्न २ साम के असली नाम लेकर उनके रहस्यार्थ प्रगट करते हैं । ये नाम भी उसी क्रम से यहां कहे गए हैं, जिस क्रम से वह यज्ञ में प्रयोग होते हैं । गायत्र रथन्तर, वामदेव्य, बृहद, वैरूप, वैराज, शाक्वरी, रेवती, यज्ञायज्ञिय राजन

पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । महामनाः स्यात् तद् व्रतम् ॥ २ ॥

मन हिङ्कार है, वाणी प्रस्ताव है, आंख उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है, प्राण निधन है । यह गायत्र साम (पांच) प्राणों * में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

वह जो इस प्रकार इस गायत्र साम को प्राणों में प्रोया हुआ जानता है, वह अविकल इन्द्रियोंवाला होता है, सम्पूर्ण आयु को पहुंचता है, और उज्ज्वल जीना जीता है, महान् होता है प्रजा (सन्तान) से और पशुओं से और महान् कीर्ति से (गायत्र साम के उपासक का) व्रत यह है, कि वह बड़े मनवाला हो (क्षुद्रहृदय न हो)† ॥ २ ॥

बारहवां खण्ड

अग्निं मन्थति, स हिङ्कारः; धूमो जायते, स प्रस्तावः, ज्वलति, स उद्गीथः, अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहारः, उपशाम्यति, तन्निधनम्, सं शाम्यति, तन्निधनम् । एतद् रथन्तरमग्नौ प्रोतं ॥ १ ॥

स य एवमेतद् रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेद् तद्व्रतम् ॥ ३ ॥

* मिलाओ छान्दो० उप० । २ । ७ । १ । जहां प्राण दूसरे नाम से कहे हैं ॥

† गय प्राणों का नाम है (देखो बृह० उप०) गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली ॥

" । जो (अरणि को) रगड़ना है, यह हिङ्कार है, जो धुआं उठता है, यह प्रस्ताव है, जो जलना है, यह उद्गीथ है; जो अङ्गारे बनते हैं, वह प्रतिहार है; जो बुझने लगना है, यह निधन है; जो बुझ जाना है, यह (भी) निधन है। यह रथन्तर साम अग्नि * में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

वह जो इस प्रकार इस रथन्तर साम को अग्नि में प्रोया हुआ जानता है, वह ब्रह्मवर्चस † वाला और अन्नका खानेवाला (चमकती हुई भूखवाला, स्वस्थ, नीरोग) होता है, सारी आयु को पहुंचता है। उज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से और पशुओं से और महान् कीर्ति से (इस उपासना का यह) व्रत है, कि वह अग्नि के अभिमुख न आचमन करे, न थूके ॥ २ ॥

तेरहवां खण्ड

उपमन्त्रयते, स हिंकारः; ज्ञपयते स प्रस्तावः; स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः; प्रतिस्त्री सहशेते, स प्रतिहारः, कालं गच्छति तन्निधनम्, पारं गच्छति तन्निधनम्। एतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद, मिथुनी भवति, मिथुनान्मिथुनात् प्रजायते, सर्व मायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या, न काञ्चन परिहरेत तद् व्रतम् ॥ २ ॥

---

* रथन्तर साम अग्नि मन्थन करने में प्रयोग किया जाता है।

† ब्रह्मवर्चस, जो तप और स्वाध्याय से चेहरे पर तेज चमकता है। चिङ्गाड़ियों के तौर पर निकलता हुआ प्रतीत होता है॥

वामदेव्य साम मिथुन (जोड़े) में पोया हुआ है ॥१॥

वह जो इस प्रकार इस वामदेव्य को मिथुन में पोया हुआ जानता है, वह मिथुनी † होता है (जोड़ेवाला होता है, विरह के दुःखका भागी नहीं होता) मिथुन से प्रजावाला होता है (अमोघ वीर्य होता है) सारी आयु को पहुंचता है, उज्ज्वल जीना जीता है, महान् होता है प्रजा से और पशुओं से । और महान् कीर्ति से। इस उपासना का यह व्रत है । किसी को न त्यागे ‡ ॥ २ ॥

चौदहवां खण्ड

उद्यन् हिंकार, उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथो, ऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनम् । एतद्बृहदादित्ये प्रोतम् । १ ।

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया प-शुभिर्भवति,महान्कीर्त्या।तपन्तं न निन्देत्,तद्व्रतम् २।

---

*यह गर्भाधान कर्म सम्बन्धी वचन हैं इनकी व्याख्या सरल संस्कृत में करदेते हैं। उपमन्त्रयते, सकेतं करोति, स हिङ्कार., ज्ञपयते तोपयति स प्रस्ताव. । स्त्रिया सह शयन, एकपर्यङ्के गमनम्, उद्गीथ., कालं गच्छति मैथुनेन, पारं समाप्तिं गच्छति, तन्निधनम् ॥

† वायु जल के जोड़े के सम्बन्ध से वामदेव्य साम की उत्पत्ति कही गई है (शंकराचार्य) ॥

‡ किसी (स्त्री) को नहीं त्यागे=अपनी स्त्रियों में से किसी का त्याग न करे (आनन्द तीर्थ) । पर यह अधिक सम्भव है, कि जो उसे पहले वरना चाहे, उसमें सौन्दर्य आदि किसी बात की त्रुटि देखकर उसका त्याग न करे । यह स्त्री जाति की सम्मानना का व्रत है ।

* उदय होता हुआ [सूर्य] हिङ्कार है, उदय होचुका हुआ प्रस्ताव है, दुपहर के समय वह उद्गीथ है, पिछले पहर वह प्रतिहार है, अस्त होता हुआ निधन है। यह बृहत् साम सूर्य † में प्रोयाहुआ है १।

वह जो इस प्रकार इस बृहत् को सूर्य में प्रोया हुआ जानता है, वह तेजस्वी ‡ होता है, अन्न खाने के योग्य [दृढ़] होता है, सारी आयु को पहुंचता है, उज्ज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से और पशुओं से, महान् कीर्ति से। इसका यह व्रत है। 'तपते हुए [गर्मी पहुंचाते हुए सूर्य] की कभी निन्दा न करे'। २।

पन्द्रहवां खण्ड।

अभ्राणि-सम्प्लवन्ते, स हिङ्कारः; मेघो जायते, स प्रस्तावः; वर्षति स उद्गीथः; विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः; उद्गृह्णाति, तन्निधनम्। एतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम्। १।

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद, विरूपा ँश्च सुरूपा ँश्च पशूनवरुन्धे, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या। वर्षन्तं न निन्देत्, तद्व्रतम्। २।

§ जो धुंध इकट्ठी होती है, यह हिङ्कार है; मेघ घनता है यह प्रस्ताव है; बरसता है, यह उद्गीथ है, चमकता है गर्जता है, यह

* मिलाओ अथर्व ९।५।४-५ से
† बृहत् का देवता सूर्य है (शंकराचार्य)
‡ जिसकी ओर आंख उठाकर न देखसके।
§ मिलाओ अथर्व ९।५।६-७ से।

प्रतिहार है; बन्द होता है, यह निधन है; यह वैरूपसाम पर्जन्य [मेघ] में प्रोया हुआ है । १ ।

वह जो इस प्रकार इस वैरूप साम को पर्जन्य में प्रोया हुआ जानता है, वह सब प्रकार के [विरूप, सुरूप] पशुओं को प्राप्त होता है, सारी आयु को पहुंचता है, उज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से, और पशुओं से, और महान् कीर्ति से। इसका व्रत यह है 'बरसते हुए की कभी निन्दा न करे' । २ ।

सोलहवां खण्ड

वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् । एतद् वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एव मेतद् वैराजमृतुषु प्रोतं वेद, विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । ऋतून् न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥ २ ॥

वसन्त हिङ्कार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, बरसात उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है, हेमन्त निधन है । यह वैराज साम ऋतुओं में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

वह जो इस प्रकार इस वैराज साम को ऋतुओं में प्रोया हुआ जानता है, वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मवर्चस से चमकता है (विराजति)*पूर्ण आयु को पहुंचता है, उज्वल जीता है, महान् होता

---

* जैसे ऋतु अपने २ धर्मों से चमकते हैं। 'विराजति' इस फल के सम्बन्ध से वैराजनाम है।

है प्रजासे और पशुओं से और महान् कीर्ति से। इसका यह व्रत है 'ऋतुओं की कभी निन्दा न करे'॥ २॥

सत्तरहवां खण्ड

पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनम्। एताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोताः॥ १॥

स य एवमेताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोता वेद, लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या। लोकान् न निन्देत्, तद्व्रतम्॥ २॥

पृथिवी हिङ्कार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्यौ उद्गीथ है, दिशाएं प्रतिहार है, समुद्र निधन है। यह शक्करी * साम लोकों में † प्रोए हुए है॥ १॥

वह जो इस प्रकार इन शक्करियों को लोकों में प्रोया हुआ जानता है, वह लोकों का मालिक होता है, पूर्ण आयु को पहुंचता है, महान् होता है, प्रजा से और पशुओं से, और महान् कीर्ति से। और इस का व्रत यह है 'लोकों की कभी निन्दा न करे'॥२॥

---

* 'शक्कर्य' यह एकही साम का नाम है। पर यह नित्य बहुवचन रहता है, ऐसेही आगे 'रयत्य' यह बहुवचन भी है।

† शक्करी साम महानाम्नी ऋचाओं में गाए जाते हैं। और उन ऋचाओं का सम्बन्ध 'जल महानाम्नी है' इस से जलों के साथ बतलाया है। और 'लोक जलों के प्रहार हैं' यह श्रुति है। इस सम्बन्ध से शक्करी साम लोकों में प्रतिष्ठित हैं (आनन्द गिरि)

अठारहवां खण्ड

अजाहिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषोनिधनम् । एतारेवत्यः पशुषुप्रोताः ॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद, पशुमान् भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । पशून् न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥ २ ॥

बकरियें, हिङ्कार है, भेड़ें प्रस्ताव है, गौएं उद्गीथ है, घोड़े प्रतिहार है, पुरुष निधन है । यह रेवती साम पशुओं में प्रोए हुए हैं ॥ १ ॥

वह जो इस प्रकार इन रेवतियों को पशुओं में प्रोया हुआ जानता है, वह पशुओं में अमीर * होता है, पूर्ण आयु को पहुंचता है, उज्ज्वल जीता है, महान् होता है, प्रजा से और पशुओं से और महान् कीर्ति से । इसका व्रत यह है, 'कि पशुओं की कभी निन्दा न करे' ॥ २ ॥

उन्नीसवां खण्ड

लोम हिंकार स्त्वक् प्रस्तावो मा ँ स मुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनम् । एतद् यज्ञायज्ञिय मङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतद् यज्ञायज्ञिय मङ्गेषु प्रोतं वेद, अङ्गी भवति, नाङ्गेन विहूर्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति,

*रेव.तृ.-अर्थ धनवान् है। 'पशु रेवती है, यह श्रुति है (आनन्दगिरि)

महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । संवत्सरं मज्जोनाश्नीयात्, तद्व्रतम्, मज्जोनाश्नीयादिति वा॥२

लोम हिङ्कार है, त्वचा (चमड़ा) प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि (हड्डी) प्रतिहार है, मज्जा (चर्बी) निधन है। यह यज्ञायज्ञिय साम अंगों में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

वह जो इस प्रकार यज्ञायज्ञिय साम को अंगों में प्रोया हुआ जानता है, वह दृढ अंगों वाला होता है, किसी अंग से हीन वा टेढ़ा नहीं होता, पूर्ण आयु को पहुंचता है, उज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से पशुओं से । और महान् कीर्ति से । इस का व्रत यह है 'बरस भर मज्जा नखाए, या (सर्वदा) मज्जा नखाए' ॥२॥

बीसवां खण्ड

अग्निर्हिङ्कारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनम् । एतद् राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एव मेतद् राजनं देवतासु प्रोतं वेद, एतासामेव देवताना ँ सार्ष्टिता ँ सायुज्यं गच्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । ब्राह्मणान् न निन्देत् तद्व्रतम् ॥२॥

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, सूर्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार हैं, चन्द्रमा निधन है । यह राजन साम देवताओं में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

वह जो इस राजन सामको देवताओं में प्रोया हुआ जानता है, वह इन्हीं देवताओं की सलोकता, सार्ष्टिता और सायुज्य*को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु को पहुंचता है, उज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से और पशुओं से। और महान् कीर्ति से। इसका व्रत यह है 'ब्राह्मणों की निन्दा न करे' ॥ २ ॥

इक्कीसवां खण्ड

त्रयी विद्या हिङ्कारः, त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावः, अग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथः, नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः, सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनम्। एतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद, सर्वꣳह भवति । २ ।

तदेष श्लोकः—'यानि पञ्चधा त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति । ३ ।

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳसर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति। सर्वमस्मीत्युपासीत, तद्व्रतं तद्व्रतम् । ४ ।

त्रयी विद्या [ऋचा, यजु और साम की विद्या] हिङ्कार है, तीनों लोक [पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ] प्रस्ताव है, अग्नि वायु और सूर्य [तीन देवता] उद्गीथ है, नक्षत्र, पक्षी और किरणें

---

* समान लोक में होना, समान शक्तिवाला होना और एकता। अर्थात् उसका लोक दुःख और अविद्या से रहित, शक्ति अप्रतिहत (जिसके लिये कोई रोक नहीं) और स्वभाव परोपकारपरायण होजाता है॥

प्रतिहार है, सर्प गन्धर्व और पितर निधन हैं। यह साम * हर एक वस्तु में मोया हुआ है १।

वह जो इस साम को हर एक वस्तु में मोया हुआ जानता है, वह सब कुछ † होता है। २।

इस पर यह श्लोक है। जो पांच प्रकार के तीन ‡ हैं, उनसे बढ़कर और कुछ नहीं है। ३।

जो उसको जानता है, वह सब कुछ जानता है। सारी दिशाएं उस [उपासक] के लिये बलि लाती हैं। वह ऐसा ध्यान करे 'मैं सब कुछ हूं' यह उसका व्रत है यह उसका व्रत है §। ४।

बाईसवां खण्ड।

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथः, अनिरुक्तः प्रजापतेः, निरुक्तः सोमस्य, मृदु श्लक्ष्णं वायोः, श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य, क्रौञ्चं बृहस्पतेः, अपध्वान्तं वरुणस्य। तान् सर्वानेवोपसेवेत, वारुणं त्वेव वर्जयेत्१।

साम का [साण्डकी गर्ज की तरह] गम्भीर स्वर से गाना पशुओं के लिये भला है, मैं उसे पसन्द करता हूं। ऐसा उद्गीथ

---

* यहां कोई गायत्रआदि नाम विशेष नहीं लिया, इस लिये साम शब्द साममात्र का बोधक है। अर्थात् हिङ्कार आदि साम भक्तियों को त्रयीविद्या आदि की दृष्टि से उपासना चाहिये। और पिछली सामोपासनाओं में भी जिन २ में जो २ साम मोया हुआ बतलाया है, उस २ साम को उनकी दृष्टि से उपासना चाहिये। (शंकराचार्य)

† सब का मालिक होता है। (शंकराचार्य)

‡ त्रयी विद्या तीन लोक इत्यादि जो तीन २ हिङ्कार आदिकेरूप में बतलाए गए हैं।

§ यहां साम की उपासनाओं की समाप्ति है।

[साम का गान] अग्नि का है, * अनिरुक्त † प्रजापति का है, निरुक्त सोम का है, नर्म और साफ [चिकना] वायु का है, साफ और बल वाला इन्द्र का है, कूंज के सदृश बृहस्पति का है। फूटा हुआ [फूटे हुए भांडे के सदृश, घा घां] वरुण का है। इन सब पर अभ्यास करे केवल वरुण सम्बन्धी को छोड देवे ‡ । १ ।

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत । स्वधां पितृभ्यः, आशां मनुष्येभ्यः । तृणोदकं पशुभ्यः, स्वर्गं लोकं यजमानाय । अन्नमात्मने, आगायानीति एतानि मनसाध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत । २ ।

§ (उद्गाता को) इस बुद्धि से गाना चाहिये ॥, कि 'मैं अमृत देवताओं के लिये गाऊं (अपने गाने मे सम्पादन करूं)। स्वधा पितरों के लिये। आशा मनुष्यों के लिये। तृण (चारह) और पानी पशुओं के लिये। स्वर्गलोक यजमान के लिये,

---

* उसका देवता अग्नि है।

† जो निखेरकर अर्थात् दूसरों से अलग करके अपने निजरूप में बतलाया जासक्ता है, वह निरुक्त, जो इस तरह निखेरा नहीं जा सक्ता, वह अनिरुक्त है।

‡ यहां यह भिन्न २ स्वर गिनाए हैं, जो साममन्त्रों के गाने में प्रयुक्त होते हैं। उनके नाम यह हैं। विनर्दि, अनिरुक्त, निरुक्त, मृदु-श्लक्ष्ण, श्लक्ष्ण बलवत्, क्रौञ्च, अपध्वान्त।

§ गाने के समय ध्यान करने योग्य विषय को कहते हैं।

॥ 'इत्यागायेत्' इस बुद्धि से गाना चाहिये' यह पाठ शंकराचार्य की व्याख्या में नहीं लिया गया, और इसके छोड देने में कोई त्रुटि भी नहीं है।

और अन्न अपने लिये गाउं'। इस प्रकार वह (उद्गाता) इनको मन से ध्यान करता हुआ अप्रमत्त होकर (उच्चारण आदि में कोई अशुद्धि न करता हुआ) स्तुति करे। २।

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः, सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः,सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः। तं यदि स्वरेषूपालभेत, 'इन्द्र ँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं, स त्वा प्रतिवक्ष्यती' त्येनं ब्रूयात्। ३।

अथ यद्येन मूष्मसूपालभेत, 'प्रजापति ँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यती' त्येनं ब्रूयाद्। अथ यद्येन ँ स्पर्शेषूपालभेत 'मृत्यु ँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं, स त्वा प्रतिधक्ष्यती' त्येनं ब्रूयात्॥ ४॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रेबलं ददानीति। सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता निरस्ता विवृता वक्तव्याः। प्रजापतेरात्मानं परिददानीति। सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परि हराणीति॥ ५॥

* सारे स्वर इन्द्र का शरीर हैं, सारे ऊष्म प्रजापति का शरीर हैं, सारे स्पर्श मृत्यु का शरीर हैं। सो यदि कोई पुरुष उसे

---

* साम की भिन्न २ ध्वनियों के देवता कह कर अब अक्षरों के देवता कहते हैं। स्वर-अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ। ऊष्म-शषसह। स्पर्श-क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म।

स्वरों में उलहना दे * तो वह उसे कहे 'मैं इन्द्र की शरण पड़ा था (स्वरों का उच्चारण करता हुआ) वही (तुझे) उलटा कहेगा †॥३॥

और यदि कोई इसे ऊष्मों में उलहना दे, तो वह उसे कहे 'मैं प्रजापति की शरण पड़ा था, (ऊष्म का उच्चारण करता हुआ) वह तुझे उलटा पीसेगा' और यदि कोई इसे स्पर्शों में उलहना दे, तो वह उसे कहे 'मैं मृत्यु की शरण पड़ा था, (स्पर्शों का उच्चारण करता हुआ) वह तुझे उलटा भस्म करेगा' ॥ ४ ॥

‡ सारे स्वर भरी हुई ध्वनि से और बल से उचारने चाहियें, इस तरह उद्गाता इन्द्र में बल दे देता है §, सारे ऊष्म न ग्रसे हुए न फैंके हुए किन्तु खुले हुए उचारने चाहियें, इस तरह उद्गाता प्रजापति को अपना आप समर्पण करता है। सारे स्पर्श धीरे २ एक दूसरे में न मिलाए हुए उचारने चाहिए, इस तरह उद्गाता (सन्तुष्ट हुए) मृत्यु से अपने आपको बचा लेता है ॥ ५ ॥

---

* कि तू ने अमुक स्वर ठीक नहीं उचारा है ॥

† अर्थात् मैं स्वरों का प्रयोग करता हुआ, स्वरों के अधिष्ठाता इन्द्र की शरण में पहुंचा हुआ था, तुम मेरे ऊपर आक्षेप करते हो, तुम्हारे ऊपर उस देवता से आक्षेप होगा। अभिप्राय यह है जो अपने इष्टदेव की भक्ति में उसके साथ एक हो रहा है, ईर्षा के वश हो कर उसका अनिष्ट चाहना उलटा अपने ऊपर पड़ता है। इसलिये यहां तीनों जगह प्रति शब्द का प्रयोग है। प्रति वक्ष्यति, उलटा कहेगा वा उत्तर देगा, प्रति पेक्ष्यति, उलटा पीसेगा, प्रतिधक्ष्यति, उलटा जलाएगा। यह उनको ताड़ना दी गई है, जिनका सारा घमण्ड उच्चारण पर है, और परमात्मा में कोई भक्ति नहीं ॥

‡ अक्षरों का उच्चारण भी ठीक होना चाहिये, इसके लिये शिक्षा देते हैं ॥

§ अक्षरार्थ—इस बुद्धि से, कि मैं इन्द्र में बल दूं।

तेईसवां खण्ड

त्रयो धर्मस्कन्धाः। यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः।१। तपएव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्त मात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्म स ँ स्थोऽमृतत्वमेति । २ ।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्। तामभ्यतपत्, अस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ ३ ॥

तान्यभ्यतपत, तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः सम्प्रास्रवत् । तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णानि, एव मोंकारेण सर्वावाक् सन्तृण्णा । ओंकारए वेद ँ सर्वम्, ओंकार एवेदे ँ सर्वम् । ४ ।

धर्म के तीन स्कन्ध (बड़े डाल) हैं। यज्ञ करना, पढ़ना (स्वाध्याय), और दान देना यह पहला (स्कन्ध)* है॥ १ ॥

तप ही दूसरा है, ब्रह्मचारी बन कर अपने आप को सदा तपस्या से क्षीण करते हुए आचार्य के घर रहना तीसरा है † यह

---

* पहला, तीनों में से एक। क्योंकि ये धर्म गृहस्थ के हैं, और गृहस्थ आश्रमों में दूसरा है, न कि पहला ॥

† तप, वानप्रस्थ का धर्म है, सदा गुरु के घर में रहते हुए तप से अपने आप को क्षीण करना यह नैष्ठिक ब्रह्मचारि का धर्म है। ब्रह्मचारि दो प्रकार के हैं। उपकुर्वाणक और नैष्ठिक। उपकुर्वाणक आश्रम पर ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गुरुदक्षिणा दे कर गृहस्थ में प्रवेश करते हैं और नैष्ठिक जो सारी आयु ब्रह्मचर्य में बिताते हैं ॥

सारे (धर्मी) पुण्य लोकों को प्राप्त होते हैं; हां ब्रह्म संस्थ * (ब्रह्म में दृढ निष्ठा वाला) अमृत को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

प्रजापति ने लोकों को तपाया † जब वह तपे तो उन में त्रयी विद्या चूकर वही। उसने फिर उस (त्रयी विद्या) को तपाया, तो उस से तीन अक्षर चूकर वहे, भूः, भुवः, स्वः ॥ ३ ॥

उसने फिर उनको तपाया, जब वह तपे, तो उन में ओंकार चूकर वहा। जैसाकि नाल से सारे पत्ते छिदे हुए हैं (नाल सारे पत्तों के अन्दर से हो कर गई है), इसी प्रकार ओंकार से सारी वाणी छिदी हुई है। ओंकार ही यह सब कुछ है, हां ओंकार ही यह सब कुछ है॥४॥

चौवीसवां खण्ड

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनं २ रुद्राणां माध्यन्दिन २ सवनम्, आदित्यानां च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीय २ सवनम् ॥१॥

* ब्रह्मसंस्थ से यहां चतुर्थाश्रमी संन्यासी अभिप्रेत है। ब्रह्मसंस्थ, ब्रह्म में दृढ निष्ठा वाला। ब्रह्म से यहां ओंकार अभिप्रेत है, जैसा कि उसी को आगे सब की निचोड बतलाया है। पहले तीनों आश्रमी जिन वैदिक कर्मों में रत हैं, जिनका कि फल पुण्यलोक हैं, संन्यासी उन कर्मों से ऊपर हो कर सारे वेदों के सार ओंकार में निष्ठा वाला हो कर अमृतत्त्व को पा लेता है॥

† यहां तपाने से दो अभिप्राय हैं, एक तो जैसे किसी द्रव्य को तपाने से उस में से सार चू पड़ता है, इस तरह इन लोकों में से त्रयी विद्या सार है, उसका सार भूःभुवःस्वः और इनका सार ओम है। दूसरा, जब कोई वस्तु तपती है, तो वह चमक उठती है, प्रदीप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रजापति के लिये तीनों लोक प्रदीप्त हुए, इन लोकों में कोई बात उसके लिये छिपी नहीं रही, उसने इनको सर्वांश में देखा, और इस में से त्रयी विद्या को सार के तौर पर निकाला॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति । स यस्तं न विद्यात्, कथं कुर्यात्, अथ विद्वान् कुर्यात् ॥ २ ॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ समाभि गायति ॥ ३ ॥

* लो ३ क द्वारमवापा ३र्णु ३३ पश्येम त्वा वयꣳ रा ३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ४ ॥

अथ जुहोति 'नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्देष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा । अपजहि परिघम्, इत्युक्त्वोत्तिष्ठति । तस्य वसवः प्रातःसवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

ब्रह्मवादी (वेद के उपदेष्टा) कहते हैं, कि प्रातःसवन तो वसुओं का है, माध्यन्दिनसवन रुद्रों का है और तृतीयसवन आदित्यों का और विश्वेदेवों का है † ॥ १ ॥

---

* मन्त्र के अक्षर यह हैं 'लोकद्वारमपावृणु, पश्येम त्वा वयं राज्याय' ८वें प्रवाक में 'वैराज्याय' १३वें प्रवाक में 'स्वाराज्याय, और, साम्राज्याय' इन अन्त पदों के सिवाय सारे मन्त्र यही हैं।

† तीन बार सोमकारस निचोड़ा जाता है, और उसकी आहुति दीजाती है, प्रातः, मध्यन्दिन (दुपहर) और सायंकाल। इन तीनों को क्रमशः प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन कहते हैं। तीनों सवनों के देवता वसु, रुद्र और आदित्य हैं, और छन्द—गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती हैं।

तो अब यजमान का लोक कहां * है ? वह जो उस (लोक) को नहीं जानता, वह (यज्ञ को) कैसे कर सक्ता है ? हां यदि वह जानता है, तो करसक्ता है ॥ ३ ॥

प्रातरनुवाक † के प्रारम्भ से पहले यजमान गार्हपत्य अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठ कर वसुओं का सामगाता है, लोक (पृथिवी) के द्वार को खोलदे, हम तुझे (पृथिवी पर) राज्य करने के लिये देखें ॥ ४ ॥

तब यजमान होम करता है [यह कहते हुए] नमस्कारहो अग्नि को, जो पृथिवी में रहता है, जो लोक में रहता है, [इस] लोक को मुझ यजमान के लिये लाभ कर; यह यजमान का लोक है । ५ ।

मैं जो यजमान हूं, यहां आने वाला हूं, जंदी यह आयु समाप्त होती है । स्वाहा ! [कहता हुआ आहुति देता है] । अर्गल ‡ को परे हटा दे, । यह कहकर वह उठ खड़ा होता ह । उस [यजमान] के लिये वसु प्रातःसवनदे देते हैं । १ ।

---

* प्रात सवन के मालिक जो वसु हैं, पृथिवीलोक उनके वश में है, अन्तरिक्ष रुद्रों के और द्यौ आदित्यों और विश्वेदेवों के । अब यजमान के लिये कोई लोक रहा नहीं, जिसको वह यज्ञ से जीते और 'लोकाय वै यजते यो यजते' लोक के विजय के लिये वह यज्ञ करता है,जो कोई यज्ञ करताहै,यह श्रुति है।इसलिये यह ज्ञान होना चाहिये कि इस उपाय से यजमान इन लोकों को जीतता है (शंकराचार्य)

† ऋचाओं का समुदाय जो गाया नहीं जाता, उसे शस्त्र कहते हैं, जो शस्त्र प्रात. काल पढ़ा जाता है, उसे प्रातरनुवाक कहते हैं ।

‡ लोक के द्वार का अर्गल । अर्गल=अरल, होड़ा, चटकनी, । वह लकड़ी जो द्वार को खुलने नहीं देती । यहां लोक से पृथिवीलोक अभिप्रेत है । और माध्यन्दिनसवन में लोक से अन्तरिक्ष लोक और तृतीय सवन में लोक से द्यौलोक अभिप्रेत है ।

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्र ँ सामाभिगायति ७।

लो ३ क द्वारमपावा ३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ हुं ३ आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २११ इति ८।

अथजुहोति-नमो वायवे ऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्यलोक एतास्मि।

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा 'अपजहि परिघम्' इत्युक्त्वोत्तिष्ठति। तस्मै रुद्रा माध्यन्दिन ँ सवन ँ सम्प्रयच्छन्ति । १० ।

माध्यन्दिन सवन के प्रारम्भ से पहले यजमान आग्नीध्रीय अग्नि के पीछे बैठकर रुद्रों के साम को गाता है । ७ ।

लोक [अन्तरिक्ष] के द्वार को खोल दे, हम (अन्तरिक्ष में) फैले हुए राज्य को पाने के लिये तुझे देखें । ८ ।

तब वह होम करता है (यह कहते हुए) नमस्कार हो वायु को, जो अन्तरिक्ष में रहता है, जो लोक में रहता है, इस लोक (अन्तरिक्ष) को मुझ यजमान के लिये लाभ कर। यह यजमान का लोक है । ९ ।

मैं जो यजमान हूं, यहां आने वाला हूं, यहीं यह आयु समाप्त होती है । स्वाहा । अर्गल को परे हटा दे । उसके लिये रुद्र माध्यन्दिन सवन दे देते हैं । १० ।

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्यो

दङ्मुख उपविश्य स आदित्य ँसवैश्वदेव ँसामाभि-
गायति । ११ ।

लो३क द्वार मपावा३र्णू ३३ पश्येमत्वा वय ँ स्वारा
३३३३३ हुं३ आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २१११ । १२ ।

आदित्यम् । अथ वैश्वदेवम् । लो ३क द्वारमपावा
३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वय ँ साम्रा ३३३३३ हुं ३३ ज्या
३यो ३ आ ३ २१११ इति । १३ ।

अथजुहोति—नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवे-
भ्यो दिविक्षिद्भयो लोकक्षिद्भयो लोकं मे यजमानाय
विन्दत । १४ ।

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः पर-
स्तादायुषः स्वाहाऽपहत परिघम्' इत्युक्त्वोत्तिष्ठति १५।

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवा स्तृतीय सवन ँ
सम्प्रयच्छन्ति । एष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद, य एवं
वेद य एवं वेद । १६ ।

तृतीयसवन के प्रारम्भ में पहले यजमान आहवनीय अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्यों का और विश्वेदेवों का साम गाता है । ११ ।

लोक (द्यौ) के द्वार को खोल्दे । हम तुझे स्वाराज्य (सबसे ऊंचे राज्य स्वर्ग के राज्य) के लिये देखें। यह आदित्यों का (साम) है । १२ ।

अगला विश्वेदेवों का है 'लोक (द्यौ) के द्वार को खोलदे, हम तुझे साम्राज्य के लिये देखें'। १३।

तब वह होम करता है (यह कहते हुए) नमस्कार हो आदित्यों को और विश्वेदेवों को, जो द्यौ में रहते हैं, लोक में रहते हैं। इस लोक (द्यौ) को मुझ यजमान के लिये लाभ करो। १४।

यह यजमान का लोक है। मैं जो यजमान हूं यहां आने वाला हूं, जूंही कि यह आयु समाप्त होती है। स्वाहा। अर्गल को परे हटा दो। यह कहकर वह उठ खड़ा होता है। १५।

उसको आदित्य और विश्वेदेव तृतीयसवन दे देते हैं, यह है जो यज्ञ के परिमाण (यथार्थता) को जानता है, जो इस रहस्य को समझता है, हां जो इस रहस्य को समझता है। १६।

तीसरा प्रपाठक *

पहला खण्ड

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्ची नव ँ शो ऽन्तरिक्ष मपूपो मरीचयः पुत्राः ।१। तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्योमधुनाडयः। ऋच एव मधुकृतः। ऋग्वेद एव पुष्पम्। ता अमृता आपः। ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥ एतमृग्वेद मभ्यतप ँ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यं मन्नाद्य ँ

---

* कर्मों (यज्ञों) के अंगों (उद्गीथ आदि) से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान को समाप्त करके सारे कर्मों का फल जो आदित्य है उसकी स्वतन्त्र उपासना के लिये नया प्रपाठक आरम्भ करते हैं।

रसोऽजायत ॥ ३ ॥ तद्व्यक्षरत् तदादित्य मभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य रोहित ँ रूपम् ।४।

वह (द्यौ में स्थित) सूर्य देवताओं का मधु (शहद) है । द्यौ उस (मधु) का तिरछा बांस है, अन्तरिक्ष छत्ता है, किरणें (किरणों में स्थित पानी, पानी की भाप) (मक्खियों के) बच्चे हैं ।१।

उस (सूर्य) की जो पूर्व की किरणें हैं, वही इसकी पूर्व की मधु की नालियां हैं । ऋचा ही मक्खियां हैं । ऋग्वेद (से विहित कर्म) फूल है । पानी (सोम, आज्य और दूध की जो आहुति दी जाती है, वह पानी) (फूल का) अमृत है । उन ऋचाओं ने (जो मक्खियां हैं) ॥ २ ॥

इस ऋग्वेद (विहित कर्म को जो फूल है) तपाया. जब वह तपा, तो उससे यश, तेज, इन्द्रिय वीर्य, और अन्नाद्य * (स्वास्थ्य), यह रस उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

वह (रस) बाहर झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया । और वह यह है, जो यह सूर्य का (उदय के समय) लाल रूप है । ४ ।

केवल कर्मी अपने फल भोग के लिये चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं, और जो साथ ही उपासक भी हैं, वह सूर्य लोक को । यही देवयान है जो इस गति को प्राप्त हुए हैं, वह सब देवता हैं । सूर्य उन सबके लिये मधु है आनन्द का हेतु है, क्योंकि वह सारे यज्ञों का परमफल है । द्यौ वह बांस है, जिस के साथ वह शहद का छत्ता लटक रहा है अन्तरिक्ष छत्ता है और उसमें जो सूक्ष्म पानी भरा हुआ है, वह मक्खियों के अंडे हैं । सूर्य की

† अन्नाद्य, खाने की शक्ति, स्वास्थ्य । देखो ३ । १३ । ?

किरणें उन अंडों के लिये घर हैं, ऋचाएं यज्ञ के पूरा करने में जो एक अंग हैं, वही यहां मधु मक्खियां हैं। वह फूल जिस में से यह मक्खियां अमृत चूसती हैं, वह यज्ञ (ऋग्वेद विहित होता का कर्म) है, और उस यज्ञ में जो कुछ होमा जाता है, वह इस फूल का अमृत है, जिसको वह चूसती हैं। फूल जब मक्खियों से चूसा गया, तो उसमें से रस झरा। वह रस जो सारे यज्ञों से सम्बन्ध रखता ह, वह उस लोक वा सूर्य लोक में भोगा जाता है, इस लिये कहा गया है, कि उस रस ने सूर्य का जा आश्रय लिया।

दूसरा खण्ड

अथ ये ऽस्यदक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाडयः। यजू ँ ष्येव मधुकृतः। यजुर्वेद एवपुष्पं। ता अमृता आपः ॥ १ ॥ तानि वा एतानि यजू ँ ष्येतं यजुर्वेदमभ्यतप ँ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद्व्यक्षरत्, तदादित्यमभितोऽश्रयत्। तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य शुक्ल ँ रूपम् ॥ ३ ॥

और जो इसकी दक्षिण की किरणें हैं, वही इसकी दक्षिण की मधु की नालियां हैं। यजुर्मन्त्र ही मक्खियां हैं। यजुर्वेद (विहित कर्म) ही पुष्प है। पानी (सोम रस आदि) ही (फूल का) अमृत है ॥ १ ॥

उन यजुर्मन्त्रों [मक्खियों] ने इस यजुर्वेद [विहित कर्म के फूल] को तपाया। जब वह तपा, तो उसमें से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य यह रस उत्पन्न हुआ। २।

वह (रस) बाहर झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया। वह यह है, जो यह सूर्य का शुक्ल [श्वेत] रूप है ॥ ३ ।

तीसरा खण्ड

अथयेऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः । सामान्येव मधुकृतः । सामवेद एव पुष्पं । ता अमृता आपः ॥ १ ॥ तानि वा एतानि सामान्येत ँ सामवेदमभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥२॥ तद् व्यक्षरत्, तदादित्य मभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य कृष्ण ँ रूपम् ॥ ३ ॥

और जो इसकी पश्चिमी किरणें हैं, वहीं इसकी पश्चिमी मधु की नालियां हैं । सामवेद (विहित कर्म) ही पुष्प है । (सोम-आदि) जल ही इसका अमृत है ॥ १ ॥

इन साममन्त्रों (मक्खियों) ने इस यजुर्वेद (विहित कर्म) को तपाया जब वह तपा, तो उस मे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

वह झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया । वह यह है, जो यह सूर्य का कालारूप है ॥ ३ ॥

चौथा खण्ड

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यः । अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः । इतिहास पुराणं पुष्पं । ता अमृता आपः ॥ १ ॥ ते वा एतेऽथ

र्वाङ्गिरस एतादितिहासपुराण मभ्यतपन् । तस्याभि तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य मन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद् व्यक्षरत, तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्, यदेतदादित्यस्य परः कृष्ण ँ रूपम् ॥ ३ ॥

और जो इसकी उत्तरी किरणें हैं, वह इसकी उत्तरी मधु की नालियां हैं। अथर्वाङ्गिरस् मन्त्र ही मक्खियां हैं। इतिहास पुराण* फूल हैं। (सोम आदि) जल अमृत है ॥ १ ॥

उन अथर्वाङ्गिरस् मन्त्रों (मक्खियों) ने इस इतिहास पुराण को तपाया। जब वह तपा, तो उस से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

वह झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया। वह यह है, जो सूर्य का अत्यन्त काला रूप है ॥ ३ ॥

पांचवां खण्ड

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यः। गुह्या एवादेशा मधुकृतः । ब्रह्मैव पुष्पं । ता अमृता आपः ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद् ब्रह्माभ्यतपन्, तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य मन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ २ ॥

---

* अश्वमेध में पारिप्लव रात्रियों में इतिहासपुराण का सुनना लिखा है। यही यहां फूल है॥

तद् व्यक्षरत्; तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्, यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

ते वा एते रसाना ँ रसाः, वेदा हि रसास्तेषा मेते रसाः । तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदाह्यमृता स्तेषा मेतान्यमृतानि । ४ ।

और जो इसकी ऊपर की किरणें हैं, वही इसकी ऊपर की मधु की नालियां है । गुप्त आदेश [गुप्त विधियें—लोक द्वारमपावर्णु, इत्यादि] ही मक्खियां हैं । ब्रह्म [ओम्] ही पुष्प है । [सोम आदि] जल ही अमृत है । १ ।

उन गुप्त आदेशों ने इस ब्रह्म (ओम्) को तपाया । जब वह तपा, तो उससे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्य, यह रस उत्पन्न हुआ । २ ।

वह झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया । वह यह है, जो यह सूर्य के मध्य में हि थरथराता सा दीखता है । ३ ।

यह [सूर्य के रोहित आदि रूप] रसो के रस हैं । क्योंकि वेद रस हैं [लोक में सार भूत वस्तु हैं] और यह [रोहित आदि रूप] उनके (वेद विहित कर्मों के) रस हैं । और यह अमृतों के अमृत हैं । क्योंकि वेद अमृत हैं, और यह उनके अमृत हैं ॥ ४ ॥

छटा खण्ड ।

तद् यत् प्रथमममृतं, तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । १ ।

त एतदेव रूपमभिसं विशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ।२। स य एतदेवामृतं वेद, वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेवरूपमभिसं विशत्येतस्माद् रूपादुदेति । ३ ।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता, पश्चादस्तमेता, वसूनामेव तावदाधिपत्य ँ स्वाराज्यं पर्येता । ४ ।

जो यह पहला अमृत है [रोहितरूप] उसको वसु [प्रातः सवन के अधिपति] उपभोग करते हैं, जिन [वसुओं] में अग्नि प्रधान है । देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देखकर ही तृप्त होते हैं । १ ।

वह इसी रूप [रोहित रूप] में ही प्रवेश करते हैं, और इस रूप से उदय होते हैं * [फिर बाहर निकलते हैं] । २ ।

वह जो इसी अमृत को जानता है, वह वसुओं में से ही एक बनकर, अग्नि की प्रधानता से [मैं] ही इसी अमृत को देखकर तृप्त होता है, वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप मे फिर उदय होता है । ३ ।

जितनी देर सूर्य पूर्व में उदय होता है, और पश्चिम में अस्त होता है, उतनी देर तक वह वसुओं के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है † । ४ ।

---

* जब तक उनके भोग का अवसर नहीं आता, तबतक यह उस रूप में लीन रहते हैं, और जब उनके भोग का अवसर आता है, तो यह इसरूप से उदय होते हैं अर्थात् उत्साह वाले होते हैं (शंकराचार्य)

† अक्षरार्थ—आधिपत्य स्वाराज्य को घेरता है । अर्थात् उस प्रभुता को अपने वश में करता है, जिसपर अपना स्वतन्त्रराज्य है ।

सातवां खण्ड ।

अथ यद् द्वितीयममृतं, तद् रुद्रा उदजीवन्तीन्द्रेण मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । १ ।

त एतदेव रूपमभि संविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ।२।

स य एतदेवममृतं वेद, रुद्राणामेवैकोभूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेवरूपमभि संविशत्येतस्मादूरूपादुदेति । ३ ।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता, द्विस्तावद् दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता, रुद्राणामेव तावदाधिपत्य ँस्वाराज्यं पर्येता । ४ ।

अब जो दूसरा अमृत है, उसको रुद्र उपभोग करते हैं, जिन में इन्द्र प्रधान है । देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देखकर ही तृप्त होते हैं । १ ।

वह इसी रूपमें प्रवेश करते है, और इस रूपसे उदय होते हैं ।२।

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह रुद्रों में से ही एक होकर इन्द्र की प्रधानता से ही इसी अमृत को देखकर तृप्त होता है, वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है । ३ ।

जितनी देर तक सूर्य पूर्व से उदय होकर पश्चिम में अस्त होता है, उससे दुगना काल दक्षिण से उदय होता है और उत्तर में अस्त होता है, उतनी देर तक वह रुद्रों के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है । ४ ।

आठवां खण्ड।

अथ यत् तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येत देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति। १।

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति। २।

स य एतदेवममृतं वेद, आदित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति। ३।

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता, द्विस्तावत् पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता, ऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्य ँ स्वाराज्यं पर्य्येता। ४।

और जो तीसरा अमृत है, उसे आदित्य उपभोग करते हैं, जिन में वरुण प्रधान है। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देखकर ही तृप्त होते हैं। १।

वह इसी रूपमें प्रवेश करतेहैं और इसरूपसे उदय होते हैं॥२॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह आदित्यों में से एक हो कर वरुण की ही प्रधानता से इसी अमृत को देख कर तृप्त होता है। वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है॥ ३॥

सो जितनी देर तक सूर्य दक्षिण से उदय होता है; और उत्तर में अस्त होता है। उससे दुगना काल पश्चिम से [illegible] है और पूर्व में अस्त होता है, उतनी देर तक वह राज्य को लाभ करता है॥ ४॥

नावां खण्ड

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद, मरुतामेवैकोभूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥
स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता, द्विस्ताव दुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुता मेव तावदाधिपत्य ँ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

और जो चौथा अमृत है, उसे मरुत् उपभोग करते हैं, जिन में सोम प्रधान है। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देख कर ही तृप्त होते हैं ॥ १ ॥

वह इसी रूप में प्रवेश करते हैं, और इस रूप से उदय होते हैं ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह मरुतों में से ही एक बनकर सोम की ही प्रधानता से इसी अमृत को देख कर तृप्त होता है। वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है ॥ ३ ॥

सो जितनी देर तक सूर्य पश्चिम से उदय होता है, और पूर्व में अस्त होता है, उस से दुगना काल उत्तर से उदय होता है और दक्षिण में अस्त होता है, उतनी देर तक वह मरुतों के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है॥ ४ ॥

दसवां खण्ड

अथ यत् पञ्चमममृतं, तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवा मृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

स य एतदेवममृतं वेद, साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेवरूप मभि संविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्त मेता, द्विस्तावदूर्ध्वं उदेताऽर्वागस्तमेता, साध्यानामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

और जो पांचवां अमृत है, उसे साध्य उपभोग करते हैं जिन में ब्रह्मा प्रधान है। देवता न खाते हैं, न पीते हैं. किन्तु इस अमृत को देख कर ही तृप्त होते हैं ॥ १ ॥

वह इसी रूप में प्रवेश करते हैं, और इस रूप से उदय होते हैं ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साध्यों में से ही एक बनकर ब्रह्मा की ही प्रधानता से इसी अमृत को देख कर

तृप्त होता है । वह इसी रूप मे प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है ॥ ३ ॥

सो जितनी देर तक सूर्य उत्तर से उदय होता है, और दक्षिण में अस्त होता है, उस से दुगना काल ऊपर उदय होता है और नीचे अस्त होता है, उतनी देर तक वह साध्यों के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है ॥ ४ ॥

ग्यारहवां खण्ड

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता । तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाह ᳲ सत्येन माविराधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

न हवा अस्मा उदेति, न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति, य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

तब उस से ऊपर उदय होकर वह फिर न कभी उदय होगा न अस्त होगा । वह अकेला ही मध्य (केन्द्र) में खड़ा रहेगा । इस पर यह श्लोक है ॥ १ ॥

वहां न कभी उदय है न अस्त है । हे देवो ! मैं उस सत्य (एकरस) ब्रह्म से कभी परे न होऊं ॥ २ ॥

जो इस ब्रह्मोपनिषद् (वेद के रहस्यार्थ) को ठीक२ जानता है, उसके लिये न कभी उदय होता है, न अस्त होता है, उसके लिये एक बार ही दिन हो जाता है * (हमेशह का दिन बन जाता है)॥ ३ ॥

---

* देखो छान्दो० ३० ८। ४। २॥

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे, मनुः प्रजाभ्यः । तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन, यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्याद्, एतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६ ॥

यह (रहस्य, मधुविज्ञान) ब्रह्मा ने प्रजापति को बतलाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने अपनी सन्तान (इक्ष्वाकु आदि) को। अपने सब से बड़े पुत्र उद्दालक आरुणि को उसके पिता (अरुण) ने यह ब्रह्म (का रहस्य) बतलाया। ४।

इसलिये यह ब्रह्म (का रहस्य) पिता अपने सबसे बड़े पुत्र को बतलाए, वा योग्य शिष्य को ५।

और किसी को नहीं चाहे इसे वह पानियों से घिरी हुई यह (समुद्र पर्यन्त पृथिवी) धन की भरी हुई देवे, यही (रहस्य) उससे बढ़ कर है, हां, यही उससे बढ़ कर है *। ६।

---

* इन ग्यारह खण्डों का रहस्यार्थ हमारी पहुंच से परे है। और सचमुच यह इतना महंगा रहस्यार्थ हमारी पहुंच से परे ही होना चाहिये था। नहीं तो हम इसे बहुत थोड़े में बेच डालते। यहां हमें खोल कर बतला दिया है, कि इसके पात्र वही हैं, जो सार्वभौम राज्य को इसके सामने तुच्छ समझते हैं। इसलिये हमें कोई शोक नहीं, यदि हम इसके पूरे रहस्य पर नहीं पहुंच सके। तथापि जो २ बात समझ

बारहवां खण्ड

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं, यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री, वाग्वा इदं सर्वं गायति च त्रायते च ॥१॥

में आती है, उसको विवृत करते हैं। हम मनुष्य हैं, हमारे लिये यह लोक है, इस लोक में जो हमारे पास सार वस्तु है, वह वेद है, वैदिक जीवन द्वारा हम इस लोक में यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और स्वास्थ्य को भोगते हैं। फिर इस जीवन का सार एक और जीवन है, जिसे हम सूर्यलोक में भोगते हैं।

यहां वेदों का दिशाओं का सूर्य के रंगो का देवताओं का और उनमें एक प्रधान देवता का इनका कोई नियत सम्बन्ध है-जैसे

(१) ऋचा, ऋग्वेद, पूर्व, लालरूप, वसु, अग्नि। (२) यजु, यजुर्वेद, शुक्लरूप, रुद्र इन्द्र। (३) साम, सामवेद, पश्चिम, काला, आदित्य, दक्षिण, वरुण (४) अथर्वाङ्गिरस, इतिहास पुराण, उत्तर, बड़ा काला, मरुत, सोम (५) गुह्य आदेश, ओम, ऊपर, मध्य, (केन्द्र) साध्य, ब्रह्मा।

वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य देवतागण हैं। वैदिककर्मों का करने वाला और इन रहस्यों का (जो यहां पूर्व कहे हैं) जाननेवाला देवता बनकर उन्हीं में जा सम्मिलित होता है। और वह इनके साथ उसी अमृत को भोगता है, जिसको यह देवता भोग रहे हैं। इनमें से प्रत्येक उपासना का फल एक दूसरे से बढ़कर है। पहले का जो भोगकाल है, दूसरे का उससे दुगुना और तीसरे का दूसरे से, दुगुना है इत्यादि। सूर्य के अन्दर जो २ परिवर्तन होता है, उस २ को वह उपभोग करते हैं, यह पांचों शबल ब्रह्म के उपासक शबलब्रह्म का उपभोग करते हैं। इसके ऊपर (उससे परे) एक और सूर्य है (येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः) जिससे यह सूर्य तप रहा है। वह परब्रह्म शुद्धब्रह्म है। इस शबल से ऊपर चढ़ कर जब वह इस शुद्ध के दर्शन करता है। सब उदय अस्त होना एक दम मिट जाता है और एक बार ही सदा के लिये दिन चढ़ आता है॥

या वै सा गायत्री, इयं वाव सा येयं पृथिवी, अस्या ᳪहीद ᳪ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥२॥

या वै सा पृथिवी, इयं वाव सा, यदिदमस्मिन् पुरुषे शरीरम्, अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

यद्वै तत् पुरुषे शरीरम्, इदं वाव तद्; यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयम्, अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री। तदेतदृचाभ्यनूक्तम्॥५॥

तावानस्य महिमा ततो ज्याया ᳪश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥६॥

यद्वै तद् ब्रह्मेति, इदं वाव तद्, योऽयं बहिर्धा पुरुषा दाकाशः। यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥७॥

अयं वाव सः, योऽयमन्तः पुरुष आकाशः। यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥ ८ ॥

अयं वाव सः, योऽयमन्तर्हृदय आकाशः, तदेतत्पूर्ण मप्रवर्ति। पूर्णमप्रवर्तिनी ᳪ श्रियं लभते य एवं वेद ॥९॥

गायत्री * सचमुच यह सारी हस्ती है, जो कुछ यह है।

---

* गायत्री वैदिक छन्दों में से एक छन्द है, और प्राय. बड़ी शक्ति वाला वर्णन किया है, इस के द्वारा ब्रह्म में चित्त लगाया जाता है, इस लिये यहां ब्रह्म को गायत्री के रूप में वर्णन किया है देखो वेदान्त १।१।२५॥

गायत्री वाणी है, क्योंकि वाणी इस सब को गाती है (गायति) और रक्षा करती है (त्रायते) * ॥१॥

वह गायत्री यह पृथिवी है, क्यों कि इस में यह हर एक हस्ती सहारा लिये हुए है और इसे कभी नहीं उलांघती है ॥ २ ॥

वह पृथिवी यह है, जो यह पुरुष में शरीर है; क्योंकि इस में यह सारे प्राण † (जो वास्तव में हर एक हस्ती हैं) सहारा लिये हुए हैं और इसे कभी नही उलांघते हैं ॥ ३ ॥

अब यह जो पुरुष में शरीर है, वह यह पुरुष के अन्दर हृदय है, क्योंकि इस में यह सारे प्राण (जो वास्तव में हर एक हस्ती हैं) सहारा लिये हुए हैं और इस को कभी नहीं उलांघते हैं ‡ ॥४॥

सो यह छःप्रकार की गायत्री चारपाद वाली है § । और यह ऋचा में भी कहा गया है (ऋग्वेद १० । ९० । ३) ५ ॥

---

* गै और त्रा इन दोनों धातुओं से गायत्री बना है। गायत्री वाणी इसलिये है, कि वाणी सब को गाती है, वर्णन करती है, और भय से बचाती है।

† प्राण यहां पांच इन्द्रियों से अभिप्राय होसक्ता है, जैसा कि छान्दो० ३।२।१, २।७।१ में वर्णन किया है। वा पांच भीतरी वायुओं से अभिप्राय होसक्ता है, जैसा कि ३। १३। १ में वर्ण करेंगे।

‡ गायत्री और पृथिवी में यह समता है, गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली है, और पृथिवी सब प्राणियों का आश्रय है। इसी तरह पृथिवी शरीर है, और शरीर हृदय है। इस तरह अन्त में गायत्री को हृदय के साथ एक किया गया है। और हृदयाकाश ब्रह्म है।

§ छ प्रकार की अर्थात् वाणी; भूत, पृथिवी, शरीर, प्राण और हृदय रूप। चार पाद छ छ अक्षरों के, क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षर का छन्द है (शंकराचार्य)

इतनी इस [ब्रह्म जो गायत्री से सम्बद्ध है] की महिमा [विभूति] है, पुरुष [पूर्णब्रह्म] उससे बड़ा है। सारे भूत इसका एक पाद हैं। और तीन पादवाला इसका अमर स्वरूप द्यौ अर्थात् [अपने स्वरूप] में है * ॥ ६ ॥

यह जो ब्रह्म है [जो अपने स्वरूप में तीन पाद से अमर वर्णन किया है, और गायत्री के रूप में वर्णन किया है.] यह वही है, जो पुरुष के बाहर आकाश है। और यह आकाश जो पुरुष के बाहर है–॥ ७ ॥

गायत्री—गायत्री छन्दों में से एक छन्द है, जो प्रायः बड़ी शक्ति वाला वर्णन किया गया है, इसके द्वारा ब्रह्म में चित्त लगाया जाता है, इस लिये यहां ब्रह्म को गायत्री के रूप में वर्णन किया है देखो वेदान्त १।१।२५ गा और त्रा इन दोनों धातुओं से गायत्री बना है। वाणी गायत्री इसलिये है, कि वाणी सब गाती है, वर्णन करती है और भय से बचाती है।

प्राण—प्राण यहां पांच इन्द्रियों से अभिप्राय होसक्ता है, जैसा कि छान्दोग्य उ० १।२।१;२।७।१ में वर्णन किया है। वा पांच भीतरी वायुओं से अभिप्राय होसक्ता है, जैसा कि ३।१३।१ में वर्णन करेंगे।

गायत्री और पृथिवी में यह समता है, गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली है,और पृथिवी सब प्राणियों का आश्रय है। इसी तरह पृथिवी शरीर है, और शरीर हृदय है। इस तरह अन्त में गायत्री को हृदय से एक किया गया है। और हृदयाकाश ब्रह्म है।

छः प्रकार की अर्थात् वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, और प्राण हृदयरूप; चार पाद छः छः अक्षरों के, क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षर का छन्द है (शंकराचार्य)

*पुरुष सूक्त में यह मन्त्र स्पष्ट ब्रह्म के वर्णन में है। और यहां भी हृदयाकाश से ब्रह्म का वर्णन है।

वह यही है, जो यह पुरुष के अन्दर आकाश है। और यह आकाश जो पुरुष के अन्दर है, वह यही है, जो यह हृदय में आकाश [ब्रह्म] है, जो सारे परिपूर्ण है और कभी बदलने वाला नहीं है। जो इसे जानलेता है, वह पूर्ण और न बदलने वाली श्री [खुशी] को लाभ करता है ॥ ८ ॥

तेरहवां खण्ड *

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः। स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणः, तच्चक्षुः स आदित्यः। तदेतत तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत। तेजस्व्यन्नादो भवति, य एवं वेद ॥ १ ॥

उस हृदय के पांच छिद्र [द्वार] हैं, जो देवों [इन्द्रियों] से सम्बन्ध रखते हैं। जो इस का पूर्व द्वार है, वह प्राण है, वह आंख है, वह आदित्य [सूर्य] है †। इस को इस दृष्टि से उपासे कि यह तेज है और अन्नाद्य [स्वास्थ्य, आरोग्य] है। जो इस रहस्य को जानता है, वह तेजस्वी होता है और स्वस्थ [नीरोग] होता है ॥१॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानः, तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः। तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत। श्रीमान् यशस्वी भवति, य एवं वेद ॥ २ ॥

* गायत्री द्वारा हृदयस्थ ब्रह्म की उपासना बतलाकर अब जो उस हृदय के द्वारपाल हैं, उनका ध्यान और फल बतलाते हैं ॥

† यहां जो प्राण, चक्षु और आदित्य आदि का सम्बन्ध दिखलाया है, ठीक ऐसाही सम्बन्ध पांचवें प्रपाठक की समाप्ति में भी है ॥

जो इसका दक्षिणी द्वारा है वह व्यान है, वह श्रोत्र है, वह चन्द्रमा है। उसको इस दृष्टि से उपासे कि यह श्री है और यश है। जो इस रहस्य को जानता है, वह श्रीवाला और यशवाला होता है ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सावाक् सोऽग्निः तत् ब्रह्मवर्चस मन्नाद्य मित्युपासीत। ब्रह्मवर्चस्य न्नादोऽभवति य एवं वेद। ३।

जो इसका पश्चिमी द्वार है, वह अपान है। वह वाणी है, वह अग्नि है। सो इसे इस दृष्टि से उपासे, कि यह ब्रह्मवर्चस और अन्नाद्य [आरोग्य] है। जो इस रहस्य को जानता है, वह ब्रह्मवर्चसी और अन्नाद(अरोग) होता है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानः, तन्मनः, स पर्जन्यः तदेतत् कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत। कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो इसका उत्तरी द्वार है, वह समान है, वह मन है, वह पर्जन्य [मेघ] है। इसे इस दृष्टि से उपासे कि यह कीर्ति है और कान्ति [सौन्दर्य] है। जो इस रहस्य को जानता है, वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् [सौन्दर्यवान्] होता है ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः। तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत। ओजस्वी महस्वान् भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

जो इसका ऊपर का द्वार है, वह उदान है, वह वायु है, वह आकाश है। इसे इस दृष्टि से उपासे कि यह ओजस् [बल, दृढ़ता] है और महिमा है। जो इस रहस्य को जानता है, वह ओजस्वी और महिमा वाला होता है ॥ ५ ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषा स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः। स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद, अस्य कुले वीरोजायते; प्रतिपद्यते स्वर्गलोकं, य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद ॥ ६ ॥

यह पांच (हृदयस्थ) ब्रह्म के पुरुष हैं, जो स्वर्गलोक (हार्दलोक) के द्वारपाल है। जो इन पांच ब्रह्मपुरुषों को स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है, उसके कुल में वीर पुरुष उत्पन्न होता है और स्वयं वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है, जो इस प्रकार इन पांच ब्रह्मपुरुषों को स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है ॥ ६ ॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु, इदं वाव तद, यदिदमास्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः। तस्यैषा दृष्टिः ॥ ७ ॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स ँस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति। तस्यैषा श्रुतिः—यत्रैतत् कर्णावपिगृह्य निनद ... नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति । तदेतद्

अब वह ज्योति जो इस द्युलोक ऊपर चमकती है, सारे विश्व से ऊपर और हर एक से ऊपर, सबसे ऊंचे लोकों में, और जिन से परे कोई ऊंचा नहीं है उन लोकों में (जो ब्रह्म ज्योति चमकती है), यही है, वह, जो यह यहां पुरुष के अन्दर ज्योति है। उस का यह दर्शन (प्रत्यक्षचिन्ह) है —॥ ७ ॥

अर्थात् जो छूने से इस शरीर में मनुष्य गर्मी प्रतीत करता है। और उस (ज्योति) की यह श्रुति (आवाज़) है, जो दोनों कान ढांपकर के [रथकी] ध्वनि की तरह, वा [बैल की] गर्ज की तरह, वा अग्नि के जलने की तरह [अपने कानों में ध्वनि] सुनता है। सो इस [शबलब्रह्म] को इसप्रकार उपासे, कि वह दृष्ट [देखागया] है और श्रुत [सुनागया] है। वह दर्शनीय होता है और विख्यात होता है, जो इस प्रकार जानता है [उपासता है] हां जो इस प्रकार जानता है * ॥ ८ ॥

---

* सौर जगत् में सूर्य इस सारे जंगम और स्थावर का जीवन है, पर वस्तुत सूर्य भी अपने अन्दर एक और सूर्य रखता है, जिस से उस का जीवन है और जिसकी ज्योति से यह चमकरहा है, वही ज्योति सारे विश्व से ऊंचा है और सारे विश्व को घेरे हुए है, वही सारे विश्व का असली जीवन है। हां जीवन रूप में वह सर्वत्र प्रतीत होता है 'प्राणो ह्येष य सर्वभूतैर्विभाति' वह जिसकी महिमा इस सारे विश्व पर चमकरही है, हमारा जीवन भी उसकी महिमा से भरा हुआ है. हम बाहर ही क्यों देखें, हमारे जीवन में क्या उसकी थोड़ी महिमा है। यदि सूर्य में उस महती सत्ता के चिन्ह विद्यमान हैं,

जो इसका ऊपर का द्वार है, वह उदान है, वह वायु है, वह आकाश है। इसे इस दृष्टि से उपासे कि यह ओजस् [बल, दृढ़ता] है और महिमा है। जो इस रहस्य को जानता है, वह ओजस्वी और महिमा वाला होता है ॥ ८ ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषा स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः। स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद, अस्य कुले वीरोजायते; प्रतिपद्यते स्वर्गलोकं, य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद ॥ ६ ॥

यह पाच (हृदयस्थ) ब्रह्म के पुरुष है, जो स्वर्गलोक (हार्दलोक) के द्वार पाल है। जो इन पाच ब्रह्मपुरुषों को स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है, उसके कुल में वीर पुरुष उत्पन्न होता है और स्वयं वह स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है, जो इस प्रकार इन पांच ब्रह्मपुरुषों को स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है ॥ ६ ॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु, इदं वाव तद, यदि दमास्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः। तस्यैषा दृष्टिः ॥ ७ ॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स ५ स्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति। तस्यैषा श्रुतिः—यत्रैतत् कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति। तदेतद्

अब यह ज्योति जो इस द्यौ के ऊपर चमकती है, सारे विश्व से ऊपर और हर एक से ऊपर, सबसे ऊंचे लोकों में, और जिन से परे कोई ऊंचा नहीं है उन लोकों में (जो ब्रह्म ज्योति चमकती है), यही है, यह, जो यह यहां पुरुष के अन्दर ज्योति है। उस का यह दर्शन (प्रत्यक्षचिन्ह) है —॥ ७ ॥

अर्थात् जो छूने से इस शरीर में मनुष्य गर्मी प्रतीत करता है। और उस (ज्योति) की यह श्रुति (आवाज) है, जो दोनों कान ढांपकर के [रथकी] ध्वनि की तरह, वा [बैल की] गर्ज की तरह, वा अग्नि के जलने की तरह [अपने कानों में ध्वनि] सुनता है। सो इस [शबलब्रह्म] को इसप्रकार उपासे, कि यह दृष्ट [देखागया] है और श्रुत [सुनागया] है। वह दर्शनीय होता है और विख्यात होता है, जो इस प्रकार जानता है [उपासता है] हां जो इस प्रकार जानता है * ॥ ८ ॥

---

* सौर जगत् में सूर्य इस सारे जंगम और स्थावर का जीवन है, पर वस्तुतः सूर्य भी अपने अन्दर एक और सूर्य रखता है, जिस से उस का जीवन है और जिस की ज्योति से यह चमक रहा है, यही ज्योति सारे विश्व से ऊंचा है और सारे विश्व को घेरे हुए है, यह सारे विश्व का असली जीवन है। हां जीवनरूप में यह सर्वत्र प्रतीत होता है 'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति' यह जिसकी महिमा इस सारे विश्व पर चमक रही है, हमारा जीवन भी उसकी महिमा से भरा हुआ है. हम बाहर ही क्यों देखें, हमारे जीवन में क्या उसकी थोड़ी महिमा है। यदि सूर्य में उस महती सत्ता के चिन्ह विद्यमान हैं,

इसलिये उसे यह इच्छा और विश्वास करना चाहिये कि-॥ १॥

वह * मनोमय [विज्ञानमय] है, जिस का शरीर प्राण है, जिस का रूप प्रकाश है, जिसके संकल्प सच्चे हैं, जिस का स्वरूप आकाश की नाईं [व्यापक और अदृश्य] है, [अथवा आकाश जिसका शरीर है] सारे रस जिसके हैं, वह इस सब को घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं है, वह बे परवाह है ॥ २ ॥

यह मेरा आत्मा है हृदय के अन्दर धाई से छोटा है, जौ से छोटा है, सरसों से छोटा है, सिमाक (सवांक) से छोटा है, सिमाक के चावल से भी छोटा है।

यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, पृथिवी से बड़ा है, अन्तरिक्ष से बड़ा है, द्यौ से बड़ा है, इन सब लोकों से बड़ा है। ३।

सारे कर्म, सारी कामनाएं, सारे सुगन्ध और सारे रस उसके हैं, वह इस सबको घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं, वह बेपरवाह है। यह मेरा आत्मा है हृदय के अन्दर, यह ब्रह्म है, इस को मैं यहां से मर कर प्राप्त हूंगा ऐसा जिसका पूराविश्वास है, और कोई संदेह नहीं (वह उसे पालेता हैं) यह शाण्डिल्य † ने कहा है शाण्डिल्य ने कहा है ॥

पन्द्रहवां खण्ड (कोशविज्ञान) ‡

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति ।

---

* देखो शत० ब्रा० १०।६।३। और बृह० उप० ५।६।१

† इस खण्ड के विज्ञान को शाण्डिल्य विद्या कहते हैं-देखो-वेदान्त ३।३।१९ की व्याख्याएं॥

‡ इस खण्ड (कोश विज्ञान) का आशय इस बात को प्रगट करना है, कि पूर्व ३।१३।६ में जो प्रतिज्ञा की है, ' कि इसके कुल में वीर पुरुष जन्म लेता है " कोश विज्ञान उसके पूरा करने का साधन है।

दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम्। स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्व मिदं श्रितम् ॥ १ ॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम, सहमाना नाम दक्षिणा, राज्ञी नाम प्रतीची, सुभूता नामोदीची, तासां वायुर्वत्सः। स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद, न पुत्ररोद ँ रोदिति। सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद, मा पुत्ररोद ँ रुदम्।२।

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुना ऽमुना ऽमुना, प्राणं प्रपद्ये ऽमुनाऽमुनाऽमुना, भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, स यदवोचम् 'प्राणं प्रपद्ये' इति। प्राणो वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च, तमेव यत्प्रापत्सि'।४। अथ यदवोचम् 'भूः प्रपद्ये' इति। पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्।५। अथ यदवोचम् 'भुवःप्रपद्ये' इति। अग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्। ६। अथ यदवोचं 'स्वःप्रपद्ये' इति। ऋग्वेदं प्रपद्ये, यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्ये इत्येव तदवोचं तदवोचम्। ७।

[* एक सन्दूक है] जिसका पेट अन्तरिक्ष है और पृथिवी

---

* यह त्रिलोकी एक सन्दूक है, जिसका निचला तल पृथिवी है, ऊपर का ढकना द्यौ है, और पेट अन्तरिक्ष है। और मनुष्यों के कर्म साधन और फलों का खजाना इस में भरा हुआ है॥

तत्प्रातः सवनं। चतुर्विं ॅ शत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं, प्रातः सवनं। तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः । प्राणा वाव वसवः, एते हीद ॅ सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्, सब्रूयात्, प्राणा वसवः ! इदं मे प्रातः सवनं माध्यान्दिन ॅ सवन मनु सन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सी येति। उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

पुरुष यज्ञ है। उसके जो [पहले] चौबीस बरस है, वह प्रातः सवन है। गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का होता है, और प्रातः सवन गायत्र है [गायत्री छन्दों से पूरा किया जाता है] इस [यज्ञ] के उस [भाग, प्रातः सवन] से वसु सम्बन्ध रखते हैं। प्राण [इन्द्रिय] [यहां पुरुष यज्ञ में] वसु हैं, क्योंकि यह ही इस [सब प्राणिमात्र] को बसाते है [वासयन्ति] । [देह में प्राणों के बसते हुए ही सब जीव जीवित हैं] ॥ १ ॥

यदि कोई [रोगादि] इस [पहिली] आयु में उसे तपाए [तंग करे], तो वह कहे हे प्राणो-वसुओ ! मेरे इस प्रातः सवन को माध्यन्दिन सवन तक फैलाओ, जिससे कि तुम जो प्राण हो वसु हो, तुम्हारे मध्य में, मै जो यज्ञ हूं, मत लुप्त होजाऊं। इस प्रकार वह निःसंदेह उससे [रोगसे] ऊपर चढ़जाता है और नीरोग होता है॥२॥

जीवन को यज्ञरूप बनाउगा, और इस पुरुष यज्ञको तीनों सवनों में पूर्ण करूगा। यह पुरुष जिस प्रकार सोम यज्ञ के ठीक सदृश है, यह सब कुछ यहां दिखलाया गया है ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारि ँ शद्वर्षाणि, तन्मा-
न्दिन ँ सवनं। चतुश्चत्वारि ँ शदक्षरा त्रिष्टुप्
ष्टुभं माध्यन्दिन ँ सवनं। तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः।
णा वाव रुद्रा एते हीदं ँ सर्वं ँ रोदयन्ति ॥३॥

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्, सब्रूयात्
प्राणाः रुद्राः। इदं मे माध्यन्दिन ँ सवनं तृतीय-
वन मनुसन्तनुतेति। मा ऽहं प्राणाना ँ रुद्राणां मध्ये
ज्ञो विलोप्सीयेति। उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४॥

अब [उस से आगे] जो चवालीस बरस हैं, वह माध्यन्दिन
वन है। त्रिष्टुप् छन्द चवालीस अक्षर का है, और माध्यन्दिन
वन त्रैष्टुभ [त्रिष्टुप् छन्दों से कियाजाता है]। इस [यज्ञ] के
उस [भाग–मध्यन्दिन सवन] से रुद्र सम्बन्ध रखते हैं। प्राणही
[इन्द्रिय] ही [यहां पुरुषयज्ञ में] रुद्र हैं, क्योंकि यह इस सब
को रुलाते हैं * [रोदयन्ति) ॥ ३ ॥

यदि कोई [रोग आदि] इस [दूसरी] आयु में उसे तपाए,
तो वह कहे– 'हे प्राणो रुद्रो ! मेरे इस माध्यन्दिन सवन को
तृतीय सवन तक फैलाओ, ताकि तुम जो प्राणहो रुद्र हो, तुम्हारे
मध्य में मै जो यज्ञ हूं, मत लुप्त होजाउं'। इस प्रकार वह निःसंदेह
ऊपर चढ़जाता है (आराम पाता है) और नीरोग होजाता है ॥४॥

अथ यान्यष्टचत्वारि ँ शद्वर्षाणि, तत् तृतीय-
सवनं। अष्टचत्वारि ँ शदक्षरा जगती, जागतं

*मध्य की आयु में प्राण क्रूर होते हैं, इसलिये रुद्र हैं॥ (शंकराचार्य)

तृतीय सवनं। तदस्यादित्या अन्वायत्ताः। प्राणा वावादित्या एते हीद ँ सर्वं माददते ॥ ५ ॥

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्, स ब्रूयात् 'प्राणा आदित्याः! इदं मे तृतीय सवन मायुरनु सन्तनुतेति। माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति। उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ६ ॥

अब [उससे आगे] जो अड़तालीस बरस हैं, वह तृतीय [तीसरा] सवन है। जगती छन्द अड़तालीस अक्षर का है, और तृतीय सवन जागत है [जगती छन्द छन्दों से कियाजाता है]। इस (यज्ञ) के उस [भाग, तृतीयसवन] से आदित्य सम्बन्ध रखते हैं। प्राण [इन्द्रिय] ही [यहां पुरुषयज्ञ में] आदित्य हैं, क्योंकि यह इस सब को ग्रहण करते हैं * ॥ ५ ॥

यदि कोई [रोगआदि] इस [तीसरी] आयु मे उसे तपाए, तो वह कहे। हे प्राणो आदित्यो! इस मेरे तीसरे सवन को आयु तक [११६ बरस तक] फैलाओ [यज्ञको समाप्त करो] जिससे कि तुम जो प्राण हो आदित्य हो, तुम्हारे मध्य में मैं जो यज्ञ हूं, मत लुप्त होजाउं, इस प्रकार वह निःसंदेह उस [रोग] से ऊपर चढ़ता है, और नीरोग होजाता है ॥ ६ ॥

एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः। 'स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति' स ह

---

* शब्दादि विषय को ग्रहण करते हैं, (शंकराचार्य्य) अथवा इस सब को संभाले हुए हैं ॥

षोडशं वर्षशतमजीवत् । प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति, य एवं वेद ॥ ७ ॥

महीदास ऐतरेय (इतरा का पुत्र) जो इस (रहस्य) का जानने वाला था, उसने कहा (रोग को सम्बोधन करके) 'तू क्या यह मुझे तपाता है, मैं इससे नहीं मरूंगा?' वह एक सौ सोलह वरस (अर्थात् २४+४४+४८) जीता रहा। (और भी) जो (कोई) ऐसा जानता है (ऐसे निश्चय वाला है) वह एक सौ सोलह वरस जीता है * ॥ ७ ॥

इस खण्ड का अभिप्राय यह है, कि दीर्घजीवी होने के लिये मनुष्य का दृढ़ निश्चय होना चाहिये, और साथ ही उसे अपने जीवन को एक परोपकार की लड़ी में परो देना चाहिये, यही अपने आपको यज्ञरूप बनाना है। यही इसके आरम्भ में कहा है **'पुरुषो वाव यज्ञः'**। सोमयज्ञ के तीन सवन होते हैं, प्रातः सवन, माध्यन्दिनसवन, और तृतीयसवन; ऐसे ही पुरुष को भी अपने जीवित-काल के तीन सवन मानने चाहियें। विधियज्ञ में पहला प्रातःसवन है, उस में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है, गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का है। सो पुरुष को अपनी आयु के पहले चौबीस वर्ष प्रातःसवन मानना चाहिये। विधियज्ञ में प्रातःसवन के मालिक वसु हैं, सो पुरुषयज्ञ में प्राण [इन्द्रिय] वसु कहलाते हैं †। यदि इस प्रातः-

---

* यज्ञके तीन सवन और उनके देवता आदि के विषय में देखो, छान्दोग्य० २।२४।१। छन्दों के सम्बन्ध में देखो, शत० ब्रा०४। २। २० ॥

† पुरुष यज्ञ में रुद्र और आदित्य भी प्राण ही हैं, जो माध्यन्दिन सवन और तृतीयसवन के मालिक हैं ॥

सवन [२४ वर्ष] में कोई रोग उसे सताए [अर्थात् यज्ञ में विघ्न होता दीखे] तो वह दृढ़निश्चय से प्राणों को कहे, हे प्राणो तुम इस यज्ञ में वसु हो, प्रातः सवन के मालिक हो, इसकी रक्षा करना तुम्हारा काम है । तुम अपने सवन के रक्षक बनो, विघ्न को दूर हटाओ, और इस सवन को दूसरे सवन के साथ मिलादो। ऐसा दृढ़ विश्वास उसके लिये अवश्य कल्याणकारी होता है, क्योंकि 'क्रतुमयः पुरुषः' पुरुष क्रतुमय है (छान्दो० ३।१४।१)

अब विधियज्ञ में प्रातःसवन के पीछे दूसरा माध्यन्दिनसवन आरम्भ होता है, इसमें त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग होता है । त्रिष्टुप् छन्द चवालीस अक्षर का है । सो पुरुष को भी अपने पहले चौबीस बरस प्रातः सवन के भोगकर उसके आगे चवालीस बरस अर्थात् अड़सठ बरस की आयुतक अपना माध्यन्दिनसवन मानना चाहिये। इसी प्रकार अड़सठ के आगे और अड़तालीस बरस अर्थात् एक सौ सोलह बरस तक अपना तृतीयसवन मानना चाहिये । इस तीसरेसवन को पूर्ण करके यज्ञ परिपूर्ण होता है, जो अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर दृढ़ विश्वास रखता है, कि अब उसके लिये कोई अपमृत्यु नहीं है, वह मृत्यु को दबाकर इस यज्ञ को अवश्य पूर्ण करेगा, सो यह विश्वास महीदास ऐतरेय ने अपने जीवन में सत्य कर दिखलाया है । यह मार्ग अब भी सबके लिये खुला है, जो चाहता है, वह चले, और उसका अमृतफल लाभ करे ॥

सत्तरहवां खण्ड *

स यदशिशिषति, यत्पिपासति, यन्न रमते, ता

* इस खण्ड का विषय पूर्व खण्ड के साथ एक है । यहां भी पुरुष और यज्ञ की तुल्यता दिखाई है ॥

अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥ अथ यदश्नाति, यत्पिबति, यद्रमते, तदुपसदैरेति ॥ २ ॥ अथ यद्धसति, यज्जक्षति, यन्मैथुनं चरति, स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥ अथ यत् तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति, ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥ तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तत्, मरणमेवास्यावभृथः ॥ ५ ॥ तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव। सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येत। अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति। तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

'आदित् प्रत्नस्य रेतसः' 'उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ज्योतिरुत्तममिति॥ ७ ॥

वह [जो अपने आपको यज्ञ जानता है] जो भूखा होता है, जो प्यासा होता है, और जो रमण नहीं करता है (खुशियों से अलग रहता है], वह इसकी दीक्षा है* ॥ १ ॥

और जो खाता है, पीता है, और रमण करता है [खुशियें भोगता है] यह उसका उपसदों के बराबर है † ॥ २ ॥

---

* भूख प्यास सहना, किसी अभीष्ट की प्राप्ति में जो अप्रसन्नता होती, इत्यादि प्रकार के जो क्लेश उठाने हैं, वह उसके लिये यज्ञ की दीक्षा के सदृश हैं ॥

† उपसदों के दिनों में यजमान को दूध पीने की आज्ञा है, इसलिये खाने पीने आदि के सुख को उपसदों से उपमा दी है ॥

और जो वह हंसता है, खाता है, और मैथुन करता है, यह स्तुत-शस्त्रों के बराबर है * ॥ ३ ॥

और जो तप, दान, सरलता, अहिंसा [दयाभाव] और सत्य वचन है, यह उसकी दक्षिणाएं हैं † ॥ ४ ॥

इसलिये जब कहते हैं, 'सोष्यति' और 'असोष्ट' यह इसका नया जन्म है, ‡ मरनाही अवभृथ है § ॥ ५ ॥

घोर आङ्गिरस [अङ्गिरसगोत्री] ने यह [यज्ञ का रहस्य] [अपने शिष्य] देवकी के पुत्र कृष्ण ¶ को उपदेश करके कहा—

* स्तुत जो ऋचाएं गाई जाती हैं, शस्त्र जो ऋग्वेदियों से पढ़ी जाती हैं ॥

† यहां तक दीक्षा, उपसद्, स्तुत-शस्त्र और दक्षिणा ये यज्ञ के अंग पुरुष में दिखलाए हैं ॥

‡ यहां शब्द में तुल्यता दिखलाई है 'सोष्यति' अर्थात् (सोमको) निचोडेगा । और जब निकालचुकता है, तो कहा जाता है 'असोष्ट' अर्थात् (रस) निचोड़ा गया है। सोम यज्ञ में इन दोनों के यह वास्तव अर्थ हैं। पर 'सू-धातु' के रस निचोडना अर्थ भी हैं, और जन्म देना अर्थ भी हैं,इसलिये जब पुरुष का जन्म होना होता है,तब भी कहते हैं 'सोष्यति' (यह माता पुत्रको) जनेगी । और जन्म होने के पीछे कहते हैं 'असोष्ट' (उसने पुत्र) जन्मा है। यह दोनों शब्द जो यज्ञ में सोम की उत्पत्ति में बोले जाते हैं, वही पुरुष की उत्पत्ति में बोले जाते हैं, इस लिये पुरुष का जन्म सोमरस के बहने के सदृश है ॥

§ अभृथ, यज्ञ की समाप्ति का स्नान, यहां ११६ वर्ष की आयु से पुरुषयज्ञ को समाप्त करके जो उसका मरना है, वही अवभृथ है ॥

¶ यहां देवकी का पुत्र कृष्ण" इतना मात्र देखकर यह नहीं कह सक्ते, कि यह वही वसुदेव के पुत्र अर्जुन के सखा कृष्ण हैं। पिता

[जिसके कि सुनने से] उसे फिर कोई प्यास [कुछ और जानने की इच्छा] नहीं रही—कि जब उसका [अपने आपको यज्ञ जाननेवाले का] अन्त का समय हो, तो वह इन [तीन यजुओं] की शरण ले [इन तीन मन्त्रों का जपकरे] " तू अविनाशि है " " तू न बदलने वाला है " " तू प्राण का तीक्ष्ण किया हुआ [सूक्ष्म तत्त्व] है " इस [विषय] पर यह दो ऋचा हैं ॥ ७ ॥

*तब वह [जगत्के] पुराने बीज [सत, आदिकारण ब्रह्म] की ज्योति

पुत्र या माता पुत्र या दोनों भाइयों के एकसे नामों का मेल कहीं जगह पाया जाता है। और किसी टीकाकारने भी यहां घोर आङ्गिरस का शिष्य लिखने के सिवाय और इसके विषय में कुछ नहीं लिखा। और न ही इन प्राचीन उपनिषदों में वासुदेव कृष्ण का कहीं नाम है। शाण्डिल्य सूत्रकार जिसे कृष्ण के विषय में श्रुति प्रमाण देने की बड़ी रुचि है, वह भी इस प्रमाण को उद्धृत नहीं करता, किन्तु नारायण उपनिषद् और अथर्व शिरस् इन नवीन उपनिषदों के प्रमाणों पर ही ठहर जाता है। सो यह घोर आङ्गिरस का शिष्य कृष्ण वासुदेव कृष्ण से प्राचीन प्रतीत होता है, यद्यपि इसकी माताका नाम भी देवकी ही है।

* इसमें पहले मन्त्र की प्रतीक दी गई है। सारा मन्त्र यह है— आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि' इसका अर्थ पूरा ऊपर दे दिया है। दूसरी ऋचा का पाठ ऋग्वेद १।५०।१० में 'ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्' की जगह यजुर्वेद २०।२१ में 'स्वः पश्यन्त उत्तरम्' है, और अथर्व वेद ७।५३।७ में इसकी जगह 'रोहन्तो नाकमुत्तमम्' यह पाठ है। तात्पर्य तो तीनों में एक है। इसीलिये यहां 'ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्' के आगे 'स्वः पश्यन्त

को देखते हैं, जो सर्वत्र व्याप्त है, सब से ऊंची है, जो द्यौ में चमकर ही है' [ऋग् ८। ६। ३०]

'जो [अविद्या के] अन्धेरे से ऊपर है, ऊंची से ऊंची ज्योति है, 'जो ऊंचे से ऊंचा स्वर्ग है' देवों के मध्य में जो देव है, उस सूर्य को हम पहुंचे है, जो सब से ऊंची ज्योति है, हां सब से ऊंची ज्योति है [ऋग् १। ५०। १०]। ७।

अठारहवां खण्ड

मनो ब्रह्मेत्युपासीते त्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतम्, आकाशोब्रह्मेति, उभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥ तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म । वाक् पादः प्राणः पादः, चक्षुः पादः, श्रोत्रं पादः। इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतम्—अग्निः पादो, वायुः पादः, आदित्यः पादो, दिशः पाद इति । उभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥ वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥३॥ प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थःपादः,स वायुना ज्योतिषा भातिच

उत्तरम् ' उसका अर्थ दिखलाया प्रतीत होता है । यहां आदित्यस्थ शबलब्रह्म (सत्य) का वर्णन है । शंकराचार्य की व्याख्या, 'स्व' के स्थान 'स्म ' पाठ को लेकर है, कि वही ज्योति हमारे हृदय में है॥

तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।४। चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद । श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, स दिग्भि ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ६ ॥

मन *ब्रह्म है, यह उपासना करे, यह अध्यात्म (देह के सम्बन्ध में) है। और अधिदैवत (देवताओं के सम्बन्ध में) यह है कि आकाश ब्रह्म है (यह उपासन करे)। सो यह दोनों (उपासनाएं) उपदेश की गई हैं—अध्यात्म और अधिदैवत ॥ १ ॥

---

* पूर्व ३। १४। २ में जो आत्मा के विषय में 'मनोमय' और 'आकाशात्मा' कहा है। जिसका अभिप्राय यह है, कि मन उसकी महिमा को प्रकाशित करता है और आकाश उसकी महिमा दिखलाता है। यहां शरीर के अन्दर उसके महत्त्व को प्रकाशित करने वालों में से मन को लिया है, क्योंकि मन देह में एक बड़ी दिव्य शक्ति है, और बाह्य जगत् में आकाश ही सब से बड़ा है। वहां यह आत्मा के महत्त्व में और कई विशेषणों के अन्दर यह भी दो (मनोमयः और आकाशात्मा) विशेषण हैं। यहां इस खण्ड में इनको स्वतन्त्र उपासना बतलाई है, एक तो शरीर के अन्दर और दूसरी बाहर॥

यह ब्रह्म (मन या आकाश) चार पाद वाला है। वाणी एक पाद है, प्राण (घ्राण) एक पाद है, नेत्र एक पाद है, श्रोत्र एक पाद है—यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत (कहते हैं) अग्नि एक पाद है, वायु एक पाद है, सूर्य एक पाद है, दिशाएं एक पाद हैं * सो यह दोनों (उपासनाएं) उपदेश की गई हैं—अध्यात्म और अधिदैवत ॥ २ ॥

वाणी ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह (पाद) अग्निरूप ज्योति से चमकता है, और तपता है†। वह जो इस प्रकार जानता है (उपासता है) वह कीर्ति से, यश से, ब्रह्मवर्चस से चमकता है और तपता है ॥ ३ ॥

प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह वायुरूप ज्योति से चमकता है और तपता है ॥ ४ ॥

श्रोत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह दिशारूपी ज्योति से चमकता है और तपता है। वह जो इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति से, यश से और ब्रह्मवर्चस से चमकता है और तपता है॥६॥

---

* मन, घ्राण नेत्र और श्रोत्र द्वारा बाह्य विषयों में पहुंचता है, और वाणी द्वारा अपने अन्दर के भावों को बाहर (दूसरों तक) पहुंचाता है, इसलिये यह चार उसके पाद हैं. और अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएं यह चारों आकाश के उदर से पाद की तरह लगे हुए हैं ॥

† समष्टि में जो अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएं हैं, वही व्यष्टि में वाणी, घ्राण, नेत्र और श्रोत्र हैं, उन्हीं दिव्य शक्तियों से यह व्यष्टि शक्तियां चमकती हैं, और उन्हीं से गर्म रहती हैं (अपने काम में उत्साहवती रहती हैं)

उन्नीसवां खण्ड ।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः, तस्योपव्याख्यानम् । असदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत् तदाण्डं निरवर्तत । तत् संवत्सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत । ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णंचाभवताम् । १ ।

तद् यद् रजतꣳसे यं पृथिवी, यत् सुवर्णꣳसा द्यौः, यज्जरायुते पर्वताः, यदुल्बंस मेघो नीहारः, या धमनयस्ता नद्यः, यद् वास्तेयमुदकꣳस समुद्रः ; २ ।

अथ यत्तदजयत् सोऽसावादित्यः । तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त, सर्वाणि च भूतानि, सर्वे च कामाः तस्मात् तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनुतिष्ठन्ति सर्वाणिच भूतानि सर्वे चैव कामाः ३

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते, अभ्यासो ह यदेनꣳसाधवो घोषा आचगच्छेयुरुप च निम्रेडन् निम्रेडन् । ४ ।

सूर्य *ब्रह्म है यह आदेश है और उसका यह पूरा व्याख्यान है, आरम्भ में यह असत्† ही था वह सत् (व्यक्त) हुआ, वह इकट्ठा हो

---

*सूर्य पहले आकाशादिब्रह्म के एक पाद के तौर पर कहा है, अब यहां यह शबलब्रह्म के रूप में स्वतन्त्र उपासना की जगह ठहराया है॥

† असत् से अभाव अभिप्रेत नहीं, किन्तु अव्यक्तनामरूप अभिप्रेत है। असत् से सत् का होना इसी उपनिषद (६।२।१) में और

गया (जम गया) वह एक अंडा* बन गया। वह (अंडा) एक बरस परिमाण लेटा रहा। (तब) वह फट गया (जैसे पक्षियों का अंडा फटता है) (अब) वह अंडे के दो कपाल (आधे टुकड़े) हुए एक रुपहरी और दूसरा सुनहरी†। १।

वह जो रुपहरी था, वह यह पृथिवी है, और जो सुनहरी था, वह द्यौ है, जो जेर, [मोटी झिल्ली] थी, वह पर्वत हैं जो नीचे पतली झिल्ली थी; वह मेघ और कुहर है, जो छोटी नाड़ियें थीं वह नदियां हैं, जो वस्ति [मूत्राशय] का पानी था, वह समुद्र है ॥ २ ॥

और वह जो उत्पन्न हुआ, [अण्डे में से निकला] वह सूर्य है। जब वह उत्पन्न हुआ, तो उलूलव‡ के घोष [नअरे] उठे, और सारे भूत [प्राणधारी, उठे] और सारी कामनाएं (प्राणियों की जरूरतें; उठीं=उत्पन्न हुईं) इसलिये सूर्य के उदय के लिये, वापिस आने

से खण्डन किया है। इसलिये जहां कहीं असत् से सत् का होना कहा है, वहां असत् से तात्पर्य्य अव्यक्त है, यहां यह सूर्य की प्रशंसा के लिये कहा है। जगत् के नाम रूप का प्रगट होना सूर्य के अधीन है, उसके बिना घुप अन्धेरे में सब कुछ अविज्ञात रहता है ॥

* अण्ड शब्द की जगह आण्ड शब्द भी उपनिषदों के समय व्यवहृत था, दो बार यहां ही प्रयुक्त हुआ है, और ६ । ३ । १ में भी है

† मिलाओ-मनु १ । १२ और छह० और उप० १ । २ । ४ ॥

‡ उलूलव=उरुरव, ठीक वही शब्द है, जो इङ्गलिश में हुर्रा (*Hurrah*) है। आनन्दगिरि लिखता है 'उलूलव शब्द विशेषे प्रसिद्धः' उलूलव य...
विशेष में प्रसिद्ध है ॥

के लिये*उत्सव के घोष उठते है और सारे प्राणधारी और कामनाएं उठती हैं ॥ ३ ॥

वह जो इस (सूर्य) को इस प्रकार उपासता है, जल्दी ही उसके पास साधु ध्वनियें (नेक ध्वनियें) आएंगी और उसे सुख देंगी हां सुख देंगी ॥ ४ ॥

चौथा प्रपाठक (पहला खण्ड) †

। ॐ। जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे, सर्वत एव मे ऽत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

अथ ह ह ँ सा निशायामतिपेतुः, तद्धैव ँ ह ँ सो हं ँ समभ्युवाद-'हो हो यि भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! जानश्रुतेःपौत्रायणस्य समं दिवा ज्योति राततं। तन्मा प्रसाङ्क्षीः, तन्मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥

त मु ह परः प्रत्युवाच 'कम्वर एनमेतत्सन्त ँ सयुग्वानमिव रैकमात्थेति'। 'यो नु कथ ँ सयुग्वा रैक इति' ॥ ३ ॥

---

*व्याख्याकारों ने इसका अर्थ अस्त होने पर भी लिखा है, पर उस अर्थ में 'प्रत्ययन' शब्द होना चाहिये। 'प्रत्यायन' का अर्थ फिर वापिस आना ही समुचित है, जो यहां उदय को स्पष्ट करता और यही उत्सव का काल है ॥

† पूर्व वायु और प्राण ब्रह्म के पाद के तौर पर आए हैं, यहां ब्रह्मरूप में उनकी स्वतन्त्र उपासना है ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येव मेन ँ
सर्वं तदभि समेति, यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति ।
यस्तद्वेद यत्सवेद । समयैतदुक्त इति' ॥ ४ ॥

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव, स ह
सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाच 'अङ्गारे ह सयुग्वानमिव
रैक्कमात्थेति' 'योनु कथ ँस युग्वारैक इति' ॥ ५ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेन ँ सर्वं
तदभि समेति, यत् किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति । स
यस्तद्वेद यत्स वेद । स मयैतदुक्त इति' ॥ ६ ॥

स ह क्षत्ता ऽन्विष्य 'नाविद मिति' प्रत्येयाय ।
त ँहोवाच-'यत्रारेब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति'७

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपवि
वेश । त ँहाभ्युवाद 'त्वं नु भगवः सयुग्वारैक इति'
'अह ँ ह्यरा ३इति' ह प्रतिजज्ञे । स ह क्षत्ता, 'अविद-
मिति' प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

जान श्रुति पौत्रायण * श्रद्धा से देने वाला, बड़ा उदार हुआ है, जिसका घर अतिथियों के लिये सदा खुला था। उसने हर एक जगह रहने के घर (टिकाने, धर्मशालाएं) बनवाए, इसलिये कि हर एक जगह (यात्री) मेरा अन्न खाएंगे ॥ १ ॥

*जानश्रुति=जन श्रुत की सन्तान, पौत्रायण=पोते का पुत्र अर्थात् जनश्रुत का प्रपोता ॥

एक बार रात्रि को कुछ हंस * (उसके घर के ऊपर से) उड़ते हुए गए, और तब एक हंस ने दूसरे हंस को इस प्रकार कहा 'होहो! भल्लाक्ष भल्लाक्ष! (मन्ददृष्टि!) जानश्रुति पौत्रायण की ज्योति (धर्म का तेज) द्यौ की तरह फैला हुआ है। उस (ज्योति) के ऊपर से मत उलांघो, न हो कि वह तुझे जला दे' ॥ २ ॥

दूसरे ने उसे उत्तर दिया 'अरे माना यह एक योग्य राजा है, पर कौन है यह बेचारा, जिसको तुम सयुग्वा रैक की तरह बोलते हो †' (पहले ने पूछा) 'कैसा है वह सयुग्वा रैक, जिसके विषय में तुम कहते हो' ॥ ३ ॥

(दूसरे ने उत्तर दिया) 'जैसे (जुए के खेल में) कृत अय‡ से जीतने पर निचले सारे अय उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार वह उसमें (रैक की नेकी में) आ जाती है, जो कुछ लोग नेकी करते हैं

---

* इसका तत्त्व (असलीयत) हमारे लिये अभी चिन्तनीय है। शंकराचार्य लिखते हैं कि राजा के अन्नदान आदि गुणों से प्रसन्न होकर देवता वा ऋषि हंस का रूप धार कर उसके दर्शन गोचर हुए॥

† अर्थात् जो वचन सयुग्वा रैक के विषय में कहना चाहिये, वह तुम इसके विषय में बोलते हो। सयुग्वा = गाड़ी का मालिक जिसमें बैल वा घोड़े जुते हुए हैं॥

‡ नर्द जिन पर फूल बने हुए होते हैं, उन्हें अय कहते हैं, यह फूल अलग२ एक, दो, तीन, और चार रखते हैं। इनको क्रम से कलि, द्वापर, त्रेता और कृत कहते हैं। कृत से सबको जीत लिया जाता है क्योंकि दूसरे सब उसके नीचे हैं उसके अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार रैक से जो नेकी है, उसमें दूसरे सारी नेकी जीती जाती है॥

(या उसकी नेकीमें) जो उसको जानता है, जिसको कि वह (रैक) जानता है। वह मैंने यह (इस आदर से) कहा है' ॥ ४ ॥

जान श्रुति पौत्रायण ने यह (बात चीत) सुनी, और उसने (प्रातः) उठते ही क्षत्ता (द्वारपाल) को कहा 'प्यारे! तू (मुझे) सयुग्वा रैक की तरह कहता है*(सयुग्वारैककी प्रशंसा तू मुझे देता है) (उसने कहा) 'कैसा है वह सयुग्वा रैक' ॥ ५ ॥

(राजा ने कहा) 'जैसे (जुए के खेलने में) कृत अय से जीतने पर निचले सारे अय उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार वह सब उसकी नेकी में आ जाती है, जो कुछ लोग नेकी करते हैं,(या इसकी नेकी में) जो उसको जानता है, जिसको कि वह जानता है। वह मैंने यह कहा है' ॥ ६ ॥

क्षत्ता उसे ढूंढने के लिये गया, और यह कहते हुए वापिस आया कि 'मैंने उसे नहीं पाया' तब उसे (राजा ने) कहा 'अरे जहां किसी ब्राह्मण की ढूंढ होनी चाहिये (एकान्त स्थान में) वहां उसे ढूंढ ॥ ७ ॥

अब वह (क्षत्ता) (एक पुरुष के पास पहुंचा जो) एक छकड़े के नीचे अपनी दाद को खजिया रहा था, वह उसके पास बैठ गया और उसे कहा 'भगवन्! क्या आप सयुग्वारैक हैं' उसने कहा 'हां मैं हूं'। तबक्षत्ता वापिस आया और कहा 'मैंने उसे पा लिया है'८॥

---

* क्षत्ता ने जो उसकी स्तुति की, तो उसने वही रात वाली बात उसे कही। और क्षत्ता ने राजा का अभिप्राय जान कर रैक की ढूंढ पाया, जिससे कि राजा उसे जान जाए, जो कुछ कि रैक जानता है॥

दूसरा खण्ड

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे। तꣳ हाभ्युवाद॥१॥

रैक्वेमानि 'षट्शतानि गवामयंनिष्कोऽयमश्वतरीरथो, ऽनु म एतां भगवो ! देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति ' ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच 'अह हारेत्वा शूद्र ! तवैव सहगोभिरस्त्विति '। तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रति चक्रमे ॥ ३ ॥

तꣳ हाभ्युवाद-' रैक्वेदꣳ सहस्रं गवामयं निष्को ऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयंग्रामो यस्मिन्नास्से, ऽन्वेव मां भगवः ! शाधीति ' ॥ ४ ॥

तस्याह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच-' आजहारेमाः शूद्र ! अनेनैवमुखेनालापयिष्यथा इति'। ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास। तस्मैहोवाच ॥५॥

"रैक्व यह छः सौगाए हैं, यह मोहरों का हार और यह खच्चरों समेत रथ है, हे भगवन् ! मुझे उस देवता का अनुशासन कीजिये, जिसे आप उपासते हैं" ॥ २ ॥

उसे दूसरे ने उत्तर दिया 'अह ! यह हार और गाडी गौओं के सहित हे शूद्र ! तेराही रहे'

तब जानश्रुतिपौत्रायण ने फिर एक हज़ार गौएं एक मोहरों का हार, एक खच्चरों समेत रथ और एक निज कन्या इनको लिया और उसके पास पहुंचा ॥ ३ ॥

और उसे कहा 'रैक यह हजार गौएं है, यह मोहरों का हार है, यह खचरों समेत रथ है, और यह पत्नी है, और यह ग्राम है, जिसमें तू रहता है। हे भगवन्! मुझे उपदेश दो ॥ ४ ॥

उसने उस (कन्या) के मुख को ऊंचे उठाकर कहा 'तुम यह (गौएं और दूसरे उपहार) ले आए हो हे शूद्र! पर केवल इस मुख से तुम मुझे बुलवाते हो *'

सो यह रैकपर्ण ग्राम महावृषों † में है, जहां (रैक) उसके लिये (उसके आधीन) ‡ रहा। उसने उसे (राजा को) कहा-॥५॥

तीसरा खण्ड (संवर्गविद्या)

वायुर्वाव संवर्गः। यदा वा अग्निरुद्वायति, वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति, वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते। इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

अथाध्यात्मम्—प्राणो वाव संवर्गः। स यदा स्वपिति

---

* इनमें से कोई वस्तु मुझे उपदेश देने के लिये बाधित नहीं कर सकी, केवल यह एक स्त्रीरत्न है, जिसका अनादर नहीं होसक्ता।

† महावृष देश, अर्थ महापुण्य ॥

‡ शङ्कराचार्य ने 'अस्म' के साथ 'अदात्' अध्याहार करके यह अर्थ किया है 'राजा ने यह ग्राम उस देदिये'

प्राणमेववागप्येति प्राणं चक्षुः प्राण ँ श्रोत्रं प्राणं मनः, प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते इति ॥ ३ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ, वायुरेव देवेषु, प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

*वायु निःसदेह संवर्ग † है। जब अग्नि बुझती है, तोवायु में लीन होती है। जब सूर्य अस्त होता है, वायु में लीन होता है (वायु मण्डल में छिपता है) जब चन्द्रमा अस्त होता है, वायु में लीन होता है।?। जब पानी सूखता है, वायु में लीन होता है। वायु ही निःसंदेह इन सब को चूसता है (खाजाता है, ज़जब करलेता है) यह, देवता ओं के सम्बन्ध में है। २।

अब शरीर के सम्बन्ध में (कहते है)-प्राण निःसदेह संवर्ग है। जब कोई मनुष्य सोता है, तो प्राण में ही उसकी वाणी लीन होती है, प्राण में नेत्र, प्राण में श्रोत्र, और प्राण में मन (लीन होता है) प्राण ही इन सब को चूसता है ॥ ३ ॥

सो यह दो संवर्ग हैं, देवताओं में वायु और प्राणों [इन्द्रियों] में प्राण ॥ ४ ॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे। तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

---

*अब रैक्व का उपदेश आरम्भ होता है, रैक्व ने अधिदैवत में वायु की और अध्यात्म में प्राण की यह दो संवर्ग उपासना बतलाई है॥

† संवर्ग, खालेनेवाला, अपने अन्दर मिलालेनेवाला, जज़्ब कर लेनेवाला॥

सहोवाच 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः। तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तम् । यस्मा वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायाह 'आत्मा देवानां जनिता प्रजाना ँ हिरण्यद ँ ष्ट्रो बभसोऽनसूरिः । महान्तमस्यमहिमान माहु रन द्यमानो यदनन्नमत्तीति वै ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे, दत्तास्मै भिक्षामिति' ॥ ७ ॥

तस्मा उ ह ददुः। ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्त स्तत्कृतं, तस्मात् सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतं, सैषा विराडन्नादी, तयेद ँ सर्वं दृष्टम् । सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति, य एवं वेद, यएवं वेद ॥ ८ ॥

*एक बार शौनक कापेय (शुनक की सन्तान, कपि गोत्री) और अभिप्रतारी काक्षसेनि [कक्षसेन की सन्तान] को जब भोजन परोसा जारहा था, उस समय उनके पास आकर एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा मांगी । उन्होंने उसे कुछ नहीं दिया ॥ ५ ॥

---

* इस विषय में इस विद्या की स्तुति के लिये आख्यायिका दिखलाते है ॥

तब उसने कहा 'एक देवता—वह कौन है ?—जो चार महान आत्माओं को खाजाता है * और जो सारे भुवन का रक्षक है। उसको हे कापेय ! लोग नहीं जानते हैं, हे अभिप्रतारिन् ! यद्यपि वह बहुत जगह रहता है। जिसके लिये यह अन्न है, उसी को यह नहीं दिया गया'† ॥ ६ ॥

तब शौनक कापेय उसकी बात को समझ कर उसके पास आया और कहा 'वह सारे देवताओं का आत्मा है, सब प्रजाओं का जन्म देने वाला है, वह सुनहरी दान्तोंवाला बड़ा खानेवाला है, वह अचेतन नहीं है। उसकी महिमा निःसंदेह बड़ी बतलाते हैं, क्योंकि वह स्वयं न खाया जाता हुआ उसको भी खा लेता है जो अन्न नहीं है। इस प्रकार हे ब्रह्मचारिन् ! हम उसकी उपासना करते हैं ‡। (और फिर परोसने वालों को कहा) इसे भिक्षादो ॥ ७ ॥

---

*यह वायु और प्राण की ओर इशारा है, जिन में चार२ का लीन होना बताया है। देखो पूर्व ४।३।२ और ४।३।३, शंकराचार्य ने 'क' शब्द का प्रजापति अर्थ लिया है। प्रजापति ब्रह्म के अभिप्राय में है, जिसको यहां वायु और प्राण अवलम्ब में प्रगट करते हैं॥

† मुझे अन्न देने से जो तुमने इनकार किया है, वह वस्तुत प्राण ब्रह्म को अन्न देने से इनकार किया है॥

‡ शौनक ने ब्रह्मचारी पर प्रगट किया है, कि यद्यपि लोग उसे नहीं देखते, पर मैं उसे देखता हूं और उपासता हूं। अर्थात् वह देवता वायु है, जो अग्नि आदि देवताओं को (जो अन्न नहीं हैं) खाजाता है, और फिर उनको जन्म देता है। या वह देवता प्राण है, जो वाणी आदि (जो अन्न नहीं हैं) को खाजाता है और जाग्रत में उनको फिर जन्म देता है॥

उन्होंने उसे अन्न दिया । सो एक पांच और दूसरे पांच दस बनते हैं, और वह कृत अय है * इसलिये सारी दिशाओं में यह दस अन्न है और कृत है । और यह विराट है, जो अन्न को खाने वाली है † । उस (विराट्) के द्वारा यह सब देखा हुआ होजाता है । सब कुछ इस का देखा हुआ होजाता है, और वह अन्न का खाने वाला (स्वस्थ, नीरोग) होजाता है, जो इस प्रकार (इस रहस्य को) जानता है, हां, जो इस प्रकार जानता है ‡ ॥ ८ ॥

---

* पहले पांच अधिदैवत में-खानेवाला वायु एक और चार उसके अन्न-अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और जल । दूसरे पांच अध्यात्म में-खानेवाला प्राण और चार उसके अन्न-वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन । यह मिल कर दस होते हैं और जुए की चार नर्दें-(अय) दस फूल बनाती हैं । कृत-४, त्रेता-३, द्वापर-२, कलि-१ । और कृत नर्द दूसरों को अन्तर्गत करलेती है, इसलिये वह दस गिनी गई है ॥

† विराट, छन्द दस अक्षर का है, और यह अन्न का नाम भी है। दस की संख्या में अन्न और अन्न का खानेवाला अन्तर्गत है, जैसा कि ऊपर कहा है, इसलिये दस की संख्या कृत रूप में अन्न और अन्नादी है ॥

‡ इस प्रवाक के तात्पर्यांश में बड़ी उलझन सी है । यहां उस उपमा को ठीक किया गया है जो पूर्व रैक के लिये दीगई थी, जैसे कृत अय में निचले अय अन्तर्गत होते हैं । सो यहां संवर्ग विद्या की दस संख्या और जुए के अयों की दस संख्या द्वारा समता दिखलाई है। और इतनर्द दूसरों को अन्तर्गत करलेती है, जैसे कि संवर्गविद्या के जानने वाले में दूसरे सारे पुण्य अन्तर्गत होजाते हैं । पर इसकी उलझन बराबर बनी है । शाङ्करभाष्य से भी यह सुलझती नहीं ॥

चौथा खण्ड *

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाऽञ्चक्रे 'ब्रह्मचर्यं भवति ! विवत्स्यामि, किंगोत्रो ऽहमस्मीति' ॥१॥ सा हैनमुवाच 'नाहमेतद् वेद, तात ! यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबलातु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति' ॥ २ ॥

सत्यकाम जाबाल [जबाला के पुत्र] ने अपनी माता जबाला से पूछा 'मातः ! मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूं, मैं किस गोत्र का हूं' ॥ १ ॥

उसने कहा 'बेटा ! मै यह नहीं जानती, तू किस गोत्रका है। परिचारिणी [आए गए की सेवा करने वाली] के तौर पर बहुत घूमती हुई मैने अपनी जवानी में तुझे पाया है। सो मैं नहीं जानती, तू किस गोत्र का है † हां मेरा नाम जबाला है, और तेरा नाम

*पूर्व ३। १८। १-में आकाशब्रह्म के जो चार पाद बतलाए हैं यह उसका विस्तार है, उनमें से प्रत्येक पाद चार २ कलाओं वाला दिखलाया है, इसप्रकार यह सोलह कला वाले की उपासना षोड़श कलावाली विद्या कहलाती है ॥

† पति के घर में मै सेवा के स्वभाव वाली रहकर अतिथि अभ्यागतों की सेवा में दत्तचित्त रही, गोत्रादि के स्मरण में मेरा मन नहीं गया, उन्हीं दिनों जवानी में मैंने तुझे पाया और तभी तेरा पिता मर गया, और मैं उसी समय से अनाथा हूं, सो मै नहीं जानती तू किस गोत्र का है (शंकराचार्य) पर यहां 'बह्वहं चरन्ती, परिचारिणि, यौवने' यह शब्द उसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं, जिसकी आगे (४) में गौतम प्रशंसा ने की है 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति ' न सत्यादगाः ', ---

सत्यकाम है। सो तू यही कहो, कि मैं जबाला का पुत्र सत्य काम हूं ॥ २ ॥

सह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच 'ब्रह्मचर्यं भगवति! वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति' ॥ ३ ॥

त ँ होवाच 'किं गोत्रो नु सोम्यासीति' स होवाच 'नाहमेतद् वेद भो यद्गोत्रोहमस्मि। अपृच्छं मातरं ँ सा मा प्रत्यब्रवीद् "बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद, यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसीति" सोऽह ँ सत्य कामो जाबालोस्मि भो इति' ॥ ४ ॥ त ँ होवाच 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति' समिधं सोम्याहरोपत्वा नेष्ये न सत्यादगा इति'। तमुपनीय कृशानामबलानां चतुः शता गा निराकृत्योवाच 'इमाः सोम्यानुसं व्रजेति'। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच 'नासहस्रेणावर्तेयेति'। स ह वर्षगणं प्रोवास, ता यदा सहस्र ँ सम्पेदुः ॥ ५ ॥

वह हारिद्रुमत (हरिद्रुमान् के पुत्र) गौतम (गोत्री) के पास आया और कहा 'भगवन्! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य वास करूंगा भगवन्! मैं आपके पास आऊं' ॥ ३ ॥

उसने उसे कहा 'सोम्य! तू किस गोत्र का है ?' उसने उत्तर दिया 'भगवन् ! मैं नहीं जानता, मैं किस गोत्र का हूं। मैंने अपनी माता से पूछा था, उसने मुझे यह उत्तर दिया है, "दासी के तौर पर बहुत घूमती हुई मैंने अपनी जवानी मे तुझे पाया है, सो मैं नहीं जानती, तू किस गोत्र का है ? हां मेरा नाम जवाला है और तेरा नाम सत्यकाम है" 'सो हे भगवन् ! मैं जवाला का पुत्र सत्यकाम हूं' ॥ ४ ॥ उसने उसे कहा 'यह बात सिवाय ब्राह्मण के कोई साफ नहीं कह सक्ता। जा सोम्य समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूंगा। तू सचाई से नहीं गया है (इधर, उधर नहीं गया है)* तब उसका उपनयन करके, उसने पतली दुबली चार सौ गौएं अलग करके उसे कहा 'हे सोम्य ! इनके पीछे जाओ'। उसने उनको हांक लिया (और मन में) कहा 'मैं वापिस नहीं आऊंगा, जब तक यह हज़ार न होजाएं'। वह बहुत बरस (जंगल में) रहा। जब वह (गौएं) हज़ार होगईं ॥ ५ ॥

पांचवां खण्ड

अथ हैन मृषभोऽभ्युवाद 'सत्यकाम३ इति' 'भगव इति' ह प्रतिशुश्राव । 'प्राप्ताः सोम्य ! सहस्र ँ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति'। 'ब्रवीतु मे भगवानिति'। तस्मै होवाच 'प्राची दिक् कला, प्रतीचीदिक् कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक् कला। एषवै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

* इस पर देखो वेदान्त० १ । ३ । ३६—३७ ॥

स य एतमेवं विद्वा ँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते, प्रकाशवानास्मिँल्लोके भवति, प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वा ँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

तब उसे बैल * ने कहा 'सत्यकाम!'। उसने उत्तर दिया 'भगवन्!'। [बैल ने कहा] 'सोम्य! हम हजार होगए हैं, हमें आचार्य के घर ले चलो' ॥ १ ॥

'और मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाऊंगा'।

[उसने कहा] 'भगवन्! मुझे बतलाइये' ॥

उसको उसने कहा 'पूर्व दिशा एककला है, पश्चिम दिशा एक कला है, दक्षिण दिशा एक कला है, उत्तर दिशा एक कला है। हे सोम्य! यह ब्रह्म का चार कलाओं वाला पाद प्रकाशवान् [प्रकाश वाला] कहलाता है ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को प्रकाशवान् नाम से उपासता है, वह इस लोक में

---

* ब्रह्म की महिमा सर्वत्र विस्तृत है, उसकी महिमा और उपासना का सृष्टि के अन्यपदार्थ भी उसी तरह उपदेश देरहे हैं, जैसे आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं।

सत्य कामने जो विद्या बैल आदि से सीखी, उसको उनके संवाद द्वारा अलङ्कार से वर्णन किया है ॥

'सत्य काम की श्रद्धा और तप से वायु देवता ने प्रसन्न होकर बैल में प्रवेश करके उससे संवाद् किया' (शंकराचार्य)

प्रकाशवाला होता है, और प्रकाश वाले लोकों को जीतता है *। जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को प्रकाशवान् नाम से उपासता है ॥ ३ ॥

छठा खण्ड

अग्निष्टे पादं वक्तेति'। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभिसायं बभूवुः, तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेःप्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

तमग्निरभ्युवाद 'सत्यकाम ३ इति' 'भगव इति' प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

'ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति' 'ब्रवीतु मे भगवानिति'। तस्मैहोवाच 'पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कला, एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वा ँ॒ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ऽनन्तवानित्युपास्ते,अनन्त वानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वा ँ॒ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

---

* प्रकाश वाला होना इस लोक का फल है, और प्रकाश वाले लोकों को जीतना अदृष्ट फल है। इसी प्रकार आगे भी दो २ फल इसी अभिप्राय से हैं ॥

'अग्नि तुझे ब्रह्म का एक पाद कहेगा' । (यह कहकर बैलचुप होगया)

उसने दूसरे दिन गौओं को हांक लिया (आचार्य के घर की ओर)। और जहां उन्हें सायंकाल हुआ, वहां उसने अग्नि जलाई, गौओं को रोक दिया, अग्नि में समिदाधान किया * और अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठगया ॥ १ ॥

अग्नि ने कहा 'सत्यकाम' उसने उत्तर दिया 'भगवन्'

अग्नि ने कहा 'सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाऊंगा' उसने उत्तर दिया 'भगवन् ! मुझे बतलाइये'

उसने उसे कहा 'पृथिवी एक कला है, अन्तरिक्ष एक कला है, द्यौ एक कला है, समुद्र एक कला है। यह ब्रह्म का चार कलावाला पाद अनन्तवान् [अन्तरहित] नाम है ॥ ३ ॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कला वाले पाद को अनन्तवान् नाम से उपासता है, वह इसलोक में 'अन्तरहित [सन्तान की परम्परा से] होता है । वह अन्तरहित लोकों को जीतता है, जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कला वाले पाद को अनन्तवान् नाम से उपासता है ॥ ४ ॥

सातवां खण्ड

हꣳस्ते पादं वक्तेति' । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभिसायं बभूवुः, तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

---

* 'अग्नये समिधमाहार्षं'.. मन्त्र से अग्नि में समिधा डालना विद्यार्थी का नित्यकर्तव्य है ॥

त ँ ह ँ स उपनिपत्याभ्युवाद 'सत्यकाम ३ इति'। भगव ! इति ' ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

'ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति' 'ब्रवीतु मे भगवानिति' तस्मै होवाच 'अग्निः कला, सूर्यः कला, चन्द्रः कला, विद्युत् कला । एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते, ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति, ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

हंस * तुझे ब्रह्म का एक और पाद कहेगा' (यह कहकर वह चुप होगया)

उसने दूसरे दिन गौओं को हांक लिया, और जहां सायंकाल हुआ, वहां उसने अग्नि जलाई, गौओं को रोकदिया, अग्नि में समिधाधान किया और अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठगया ॥ १ ॥ तब हंस उड़कर उसके पास आया और कहा 'सत्यकाम' उसने उत्तर दिया 'भगवन्' ॥ २ ॥

(हंस ने कहा) 'सोम्य मैं तुझे ब्रह्म का एक और पाद बतलाऊंगा'

---

*हंस, सूर्य से अभिप्राय है–क्योंकि श्वेत है, आकाश में उड़ता सा प्रतीत होता है, और आगे उसने ज्योति के विषय में ही सत्यकाम को उपदेश भी दिया है (शंकराचार्य)

(उसने उत्तर दिया) 'भगवन् ! मुझे बतलाइये ' उसने कहा 'अग्नि एक कला है, सूर्य एक कला है, चन्द्रमा एक कला है बिजली एक कला है। हे सोम्य ! यह चार कलाओं वाला ब्रह्म का पाद ज्योतिष्मान् (ज्योति से पूर्ण) नाम है ॥३॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को ज्योतिष्मान् नाम से उपासता है, वह इस लोक में ज्योति से पूर्ण लोकों को जीतता है, जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को ज्योतिष्मान् नाम से उपासता है ॥४॥

आठवां खण्ड

मद्गुष्टे पादं वक्तेति'। सह श्वोभूते गा अभिप्रस्थाय याञ्चकार। ता यत्राभि सायं बभूवुः, तत्राग्नि मुपसमाधाय, गाउ परुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेःप्राङुपोपविवेश ।१।

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद 'सत्यकाम ३ इति ' 'भगवव ! इति ' ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

'ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति' ब्रवीतु मे भगवानिति ' तस्मैहोवाच ' प्राणः कला, चक्षुः कला, श्रोत्रं कला, मनः कला। एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वा ५ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते, आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वा ५ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

'मद्गु* तुझे ब्रह्म का एक और पाद कहेगा' (यह कह कर हंस चुप हो गया)

उसने दूसरे दिन गौओं को हांक लिया, और जहां उन्हें सायंकाल हुआ, वहां उसने अग्नि जलाई, गौओं को रोक दिया, अग्नि में समिधाधान किया और अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया। १।

तब एक मद्गु उड़कर उसके पास आया, और कहा 'सत्यकाम' उसने उत्तर दिया 'भगवन्' ॥ २ ॥

(मद्गुने कहा) 'सोम्य मैं तुझे ब्रह्म का एक और पाद बतलाउंगा' (उसने उत्तर दिया) 'भगवन्! मुझे बतलाइये' ॥

उसने उसे कहा 'प्राण एक कला है, नेत्र एक कला है, श्रोत्र एक कला है, मन एक कला है। हे सोम्य! यह चार कलाओं वाला ब्रह्म का पाद आयतनवान् (घर वाला) नाम है ॥ ३ ॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को आयतनवान नाम से उपासता है, वह इस लोक में घरों का मालिक होता है, और उन लोकों को जीतता है जहा उसे घर (आश्रय) मिलते हैं, जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को आयतनवान नाम से उपासता है॥४॥

नवां खण्ड

प्राप हाचार्यकुलं। तमाचार्योऽभ्युवाद 'सत्यकाम३ इति'। 'भगव इति' ह प्रति शुश्राव ॥ १ ॥

---

* मद्गु, पानी में डुबकी लगाने वाला पक्षी विशेष, यहां अभिप्राय प्राण से है क्योंकि उसका जलों से सम्बन्ध है (शंकराचार्य)

ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि, को नु त्वा ऽनुशशा-सेति' 'अन्ये मनुष्येभ्य इति' ह प्रतिजज्ञे । 'भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

श्रुत ँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति' तस्मै हैतदेवोवाच, अत्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

इस तरह वह आचार्य के घर पहुंचा। उसे आचार्य ने बुलाया 'सत्य काम'। उसने उत्तर दिया 'भगवन्' ॥ १ ॥

(आचार्य ने कहा) 'सोम्य तुम ब्रह्मवेत्ता की तरह चमक रहे हो*। किसने तुझे शिक्षा दी है † उसने उत्तर दिया 'मनुष्यों ने नहीं ‡ पर हे भगवन् मैं चाहता हूं §, केवल आप ही मुझे उपदेश दें ॥२॥

क्योंकि हे भगवन् ! मैंने आप जैसे महा पुरुषों से सुना हुआ है, कि विद्या जो आचार्य से ही जानी गई है, वही असली भलाई तक पहुंचाती है'। तब उसने उसे यही (विद्या जो बैल आदि ने उपदेश दी थी) सिखलाई, इस मे कुछ छोड़ा नहीं गया (यह विद्या पूर्ण है) हां, कुछ छोडा नहीं गया ॥ ३ ॥

---

* इन्द्रिय प्रसन्न, मुख खिला हुआ, निश्चिन्त और कृतार्थ हुए प्रतीत होते हो ॥

† यह बहुत अनुचित होगा, यदि सत्य काम ने अपने स्वीकार किये हुए आचार्य के सिवाय किसी दूसरे मनुष्य से जाकर ब्रह्मविद्या ग्रहण की हो ॥

‡ अक्षरार्थ—मनुष्यों से भिन्नों ने (शिक्षा दी है)

§ 'मे कामे' अक्षरार्थ—मेरी इच्छा पर ॥

दसवां खण्ड*

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार। स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयन्, तं ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

तं जायोवाच 'तप्तो ब्रह्मचारी, कुशलमग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः परिप्रवोचन्, प्रब्रूह्यस्मा इति' तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

स ह व्याधिना ऽनशितुं दध्रे। तमाचार्यजायोवाच 'ब्रह्मचारिन्नशान, किं नु नाश्नासीति'। सहोवाच 'बहव इमे पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णो ऽस्मि, नाशिष्यामीति' ॥ ३ ॥

अथ हाग्नयः समूदिरे 'तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीत्, हन्तास्मै प्रब्रवामेति' तस्मै होचुः ॥ ४ ॥

'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति'। स होवाच 'विजानाम्यहं, यत्प्राणो ब्रह्म, कञ्च तु खञ्च न विजानामीति'।

---

*भिन्न२ शवल उपासना कहकर अब उपकोसल विद्या में शुद्ध (हृदयस्थ ब्रह्म) और शवल (प्राण, आदित्य पुरुष आदि) की एक साथ उपासनाएं बतलाई हैं। और इसलिये यह आत्मविद्या और अग्निविद्या कहलाती है। उपासना का फल मरने के पीछे शुक्लगति बतलाई है और आख्यायिका द्वारा पूर्ववत् श्रद्धा और तप को ब्रह्मविद्या का साधन बतलाया है॥

ते होचुः 'यदेव कं तदेव खं, यदेव खं तदेव कमिति'। प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

उपकोसल कामलायन (कमल की सन्तान) ने सत्यकाम जाबाल के पास ब्रह्मचर्य वास किया। उसने बारह बरस उसकी अग्नियों [गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय] की सेवा की। आचार्य ने यद्यपि दूसरे शिष्यों का समावर्तन कर दिया [वेदाध्ययन कराकर अपने घर वापिस लौटा दिया] पर केवल उपकोसल का समावर्तन नहीं किया ॥ १ ॥

तब उसे पत्नी ने कहा 'यह ब्रह्मचारी बहुत तप चुका है [तप करते २ थक गया है] बड़ी सावधानी से इसने अग्नियों की सेवा की है। ऐसा न हो कि अग्नियें तुझे दोष दें, सो आप इसे उपदेश देवें'। पर आचार्य उसे बिना उपदेश दिये ही यात्रा पर चले गए॥२॥

अब उस [ब्रह्मचारी] को शोक से खाना खाने की रुचि नहीं हुई। तब उसे आचार्य की पत्नी ने कहा 'ब्रह्मचारिन्! खाओ क्यों तुम नहीं खाते हो' ? उसने कहा 'इस पुरुष में बहुत सी कामनाएं हैं, जो उसे इधर उधर डुलाती हैं, मैं शोकों से भर रहा हूं, मैं खाना नहीं खाऊंगा' ॥ ३ ॥

तब अग्नियों ने आपस में कहा 'यह ब्रह्मचारी तप से थक गया है, बड़ी सावधानी से इसने हमारी सेवा की है । अच्छा हम इसे उपदेश दें'। तब उन्होंने उसे कहा * ॥ ४ ॥

'प्राण ब्रह्म है, क [सुख] ब्रह्म है, ख [आकाश] ब्रह्म है'।

---

* अग्नियों द्वारा जो उस पर परब्रह्म की महिमा का प्रकाश हुआ, उसे इसमें आख्यायिका की भान्ति वर्णन किया है ॥

उसने कहा 'मैंने समझ लिया है, कि प्राण ब्रह्म है, पर मैं क और ख नहीं समझा*'।

उन्होंने कहा 'जो क है, वही ख है, जो ख है, वही क है†। सो उन्होंने इस प्रकार उसे प्राण का [ब्रह्म के तौर पर] और उसके आकाश‡ [हृदयाकाश] का उपदेश दिया ॥ ५ ॥

ग्यारहवां खण्ड

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास ' पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति' ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, अपहते पापकृत्यां लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, नास्यावरपुरुषाः

* नहीं समझा, इसका अभिप्राय है, कि क सुख को कहते हैं, पर वह नाशवान् है और ख आकाश का नाम है, वह चेतन नहीं, यह कैसे ब्रह्म हो सक्ते हैं॥

† क के अर्थ सुख और ख के अर्थ आकाश है, जब यह दोनों एक दूसरे के विशेषण कर दिये गए, तो अब यह हृदयस्थब्रह्म को बोधन करते हैं। अब क विषय सुख को नहीं कह सक्ता, किन्तु ऐसे सुख का नाम है, जो आकाश से सम्बन्ध रखता है। वह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म है। और ख अब भौतिक आकाश का नाम नहीं रहा, किन्तु उस चेतन आकाश से अर्थात् उस व्यापक चेतन से अभिप्राय ही गया है जो सुखस्वरूप है। और इस प्रकार क और ख दोनों मिलकर हृदयस्थ शबलब्रह्म को कहते हैं। और प्राण हृदय से सम्बन्ध रखने से शबल ब्रह्म है॥

‡ 'तदाकाश' उसका आकाश, आकाश जो हृदय में है, जिस में प्राण का सम्बन्ध है॥

क्षीयन्ते। उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्चलोकेऽमुष्मिं श्च,
य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

अब * इसको गार्हपत्य अग्नि ने शिक्षा दी 'पृथिवी, अग्नि, अन्न और सूर्य † यह मेरे शरीर हैं, (वा ब्रह्म के शरीर हैं)। वह पुरुष जो यह सूर्य में दीखता है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ ‡॥

यह जो इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है, वह पाप कर्म को दूर करदेता है, [गार्हपत्य अग्नि के] लोक का मालिक बनता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्वल जीता है, उसके निचले पुरुष (सतन्ति) क्षीण नहीं होते। हम [अग्नयें] उसकी रक्षा करती हैं, इसलोक में और उस लोक में, जो कोई इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है॥

बारहवां खण्ड

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास 'आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति। य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सो ऽहमस्मि स एवाहमस्मीति' ॥ १ ॥

---

*पूर्व अग्नियों ने मिलकर उसे प्राण और क,ख, ब्रह्म की शिक्षादी है। अब यह अलग २ अपने २ विषय की विद्या उसे बतलाती हैं।

† इन चारों में परस्पर क्या सम्बन्ध है, शंकराचार्य कहते हैं, अग्नि और सूर्य समान धर्मवाले हैं, अर्थात् खाने वाले, पकानेवाले और प्रकाश देनेवाले हैं, इसलिये यह एकही तत्त्व है, और पृथिवी और अन्न इनका भोज्य हैं। प्रधान अंश यहां यह है कि इन सब में एक ब्रह्मका प्रकाश है॥

‡ कैसा स्पष्ट शब्द ब्रह्म का स्वरूप दिखलाया है, जो सूर्य में चेतन है, वही गार्हपत्य में है। गार्हपत्य में उसी की उपासना है, ... से सूर्य प्रदीप्त होता है॥

'स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, अपहते पापकृत्यां, लोकी भवति सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामो ऽस्मिं ँश्च लोके ऽमुष्मिं ँश्च; य एतमेवं विद्वानुपास्ते' ॥ २ ॥

अब इसको दक्षिणाग्नि ने शिक्षा दी 'जल, दिशाएं, नक्षत्र और चन्द्रमा* [यह मेरे शरीर है] वह पुरुष जो चन्द्रमा में दीखता है, वह मैं हूं, वही मैं हूं ॥ १ ॥

वह जो इसको [दक्षिणाग्नि को] इस प्रकार जानता हुआ उपासता है, वह पाप कर्म को दूर कर देता है, [दक्षिणाग्नि के] लोक का मालिक बनता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीता है, उसकी सन्तति क्षीण नहीं होती । हम उसकी रक्षा करती हैं, इस लोक में और उस लोक में, जो इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है' ॥ २ ॥

तेरहवां खण्ड

अथ हैनमाहवनीयो ऽनुशशास 'प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मीति' ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, अपहते पापकृत्या, लोकी भवति, सर्व मायुरेति, ज्योग् जीवति, नास्यावरपुरुषाः

*दक्षिणाग्नि और चन्द्रमा ज्योति वाले होने से एक हैं जल और नक्षत्र अन्न हैं । नक्षत्र भी चन्द्रमा के भोग्य माने गए हैं (शंकराचार्य)

क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामो ऽस्मिँश्च लोके ऽमु-
ष्मिँश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

अब इसको आहवनीय ने शिक्षा दी 'प्राण, आकाश, द्यौ और विजली [यह मेरे शरीर हैं]। वह पुरुष जो बिजली में दीखता है, वह मै हूं, वही मै हूं' ॥ १ ॥

वह जो इसको [आहवनीय को] इस प्रकार जानता हुआ उपासता है, वह पाप कर्म को दूर कर देता है, [आहवनीय के] लोक का मालिक बनता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्वल जीता है, और उसकी सन्तति क्षीण नहीं होती। हम उसकी रक्षा करती हैं इस लोक में और उस लोक में, जो इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है ॥ २ ॥

चौदहवां खण्ड

ते होचुः 'उपकोसलैषा सोम्य ! तेऽस्मद्विद्याऽऽत्म-
विद्या च, आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति' आजगाम हास्या-
चार्यः । तमाचार्योऽभ्युवाद 'उपकोसल ३ इति' ॥१॥

'भगव इति' ह प्रतिशुश्राव 'ब्रह्मविद इव सोम्य !
ते मुखं भाति, कोनुत्वाऽनुशशासेति'। 'कोनुमाऽनुशिष्या-
द्भो इति' हापेव निन्हुते 'इमे नूनमीदृशा अन्यादृ-
शा इति' हाग्नीनभ्यूदे 'किं नु सोम्य किल तेऽवोच-
न्निति' ॥ २ ॥

'इदमिति' ह प्रतिजज्ञे 'लोकान् वाव किल सो-
म्य ते ऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि, यथा पुष्करपलाश

"आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्य ते इति' 'ब्रवीतु मे भगवानिति' तस्मै होवाच ॥३॥

तब उन्होंने [फिर मिलकर] कहा 'उपकोसल सोम्य ! यह तुझे हमारी विद्या [अग्निविद्या] है और आत्मविद्या [पूर्वोक्त- 'प्राणोब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' यह] है। पर आचार्य तुझे गति [परलोक का मार्ग] कहेगा' ॥

[समय पाकर] उसका आचार्य आगया। आचार्य ने उसे कहा 'उपकोसल' उसने उत्तर दिया 'भगवन्' [आचार्यने कहा] 'सोम्य ! तेरामुख उस पुरुष की तरह चमक रहा है जिसने ब्रह्म को जान लिया है। किसने तुझे अनुशासन किया है ?'

[उसने कहा] 'भगवन् ! कौन मुझे अनुशासन करसक्ता था। इस प्रकार उसने इन्कार सा किया। और अग्नियों की ओर ध्यान करके कहा 'यह अग्नियें जो इस प्रकार की हैं तब औरही प्रकार की थीं'

[आचार्य ने कहा] हे सोम्य ! तुझे इन अग्नियों ने क्या उपदेश किया है ?

उसने उत्तर दिया 'यह'(अर्थात् जो अग्नियोंका उपदेश था वह कह सुनाया)

[आचार्य ने कहा] 'हे सोम्य ! तुझे उन्होंने लोक [पृथिवी आदि] ही बतलाए हैं *, पर मैं तुझे वह बतलाउगा, कि जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं चिमटते, इस प्रकार इस विद्या के जानने वाले को पापकर्म नही चिमटता है'

उसने कहा 'भगवन् मुझे बतलाए'। उसको उसने कहा ॥३॥

---

* न कि ब्रह्म पूरे तौर पर (शांकराचार्य)

पन्द्रवां खण्ड

'य एषो ऽक्षणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति' होवाच। 'एतदमृतमभय मेतद् ब्रह्मेति'। तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति, वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

एत ँ संयद्वाम इत्याचक्षते, एत ँ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति। सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति, य एवं वेद ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीः, एष हि सर्वाणि वामानि नयति। सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीः, एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति। सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

उसने कहा 'जो यह आंख में (दृष्टि का द्रष्टा) पुरुष दीखता है, यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है*। सो चाहे इस (आंख) में घी वा पानी को डालते हैं, वह दोनों किनारों को ही चला जाता है (आंख निर्लेप ही रहती है, जैसे कमल का पत्ता पानी से) † ॥ १ ॥

'इसको संयद्वाम‡ कहते हैं, क्योंकि सारे सौन्दर्य (वाम) इसको प्राप्त होते हैं, सारे सौन्दर्य इस को प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार जानता है (उपासता है) ॥ २ ॥

---

* ८।७।४ में यह प्रजापति का उपदेश भी है ॥

† आंख अपने अन्दर आई हुई वस्तुओं से निर्लेप है, इसी प्रकार यह सब में रह कर भी निर्लेप है—मिलाओ—छान्दो० ४।१४।३ ॥

‡ संयद्वाम = वाम = कर्मफल, संयन्ति = उत्पन्न होते हैं (इसके

यह वामनी भी है, क्योंकि यह सारे सौन्दर्यों (वाम) को प्राप्त कराता है (नयति)। वह सारे सौन्दर्यों को प्राप्त कराता है, जो इस प्रकार जानता है ॥ ३ ॥

यह भामनी भी है, क्योंकि यह सारे लोकों में चमकता है। वह सारे लोकों में चमकता है, जो इस प्रकार जानता है* ॥ ४ ॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च न, अर्चिषमेवाभि सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाᳪस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरᳪ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषो ऽमानवः ॥ ५ ॥

स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते ॥ ६ ॥

अब चाहे वह (ऋत्विज्) उनके लिये शवकर्म (अन्त्येष्टिसंस्कार) करते हैं, चाहे नहीं, सर्वथा वह (उपासक) किरण (आंच) को प्राप्त होते है,† आंच से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्लपक्ष

[प्र]राता) अर्थात् कर्म फलों के उदय का हेतु है। वामनी=वाम=कर्मफल, [न]ी=प्राप्त कराने वाला। अर्थात् कर्म फलों का दाता भी यही है। [भ]ामनी=सब का प्रकाशक (गोविन्दानन्द)

*यह अक्षिपुरुष परब्रह्म है, इसी को पूर्व क, ख, और यहां [स]ंयद्वामादि कहा है। देखो वेदान्त १। २। १३—१७॥

† यह ब्रह्मविद् (उपासक) की गति बतलाई है। गृहस्थ को [अ]पने पारलौकिक कर्म करने के लिये अग्न्याधान कर उन अग्नियों में

से उन छः महीनों को जिन में सूर्य उत्तर को जाता है, महीनों से वरस को, वरस से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली को । वहां एक अमानव (जो मानुषी सृष्टि का नहीं) पुरुष है ॥५॥

वह इन को (सत्यलोकस्थ) ब्रह्म को पहुंचाता है* । यह देव पथ (देवताओं का मार्ग) है, ब्रह्मपथ है (वह मार्ग जो ब्रह्म को पहुंचाता है) । वह जो इस मार्ग से जाते हैं, इस † मानवचक्र (मानुषी जीवन) को वापिस नहीं आते हैं, हां, वापिस नहीं आते हैं ॥६॥

दर्शपूर्णमासादि इष्टियों और सोमादि यज्ञों का करना आवश्यक है । और जब वह मरता है, तो उसके ऋत्विज् उन्हीं अग्नियों को ले जाकर यज्ञपात्रों समेत उसका विधिपूर्वक दाहसंस्कार करते हैं । यह संस्कार उस पुरुष का, जो पूर्वोक्त अग्निविद्या और आत्मविद्या को जानता है, हो, चाहे न हो, इस से उसका कुछ बढ़ता घटता नहीं, वह सर्वथा शुक्लगति को ही प्राप्त होता है । इस कथन से यह बात अर्थ सिद्ध होती है, कि जो इस उपासना वाले नहीं, उनका यथाविधि अन्त्येष्टि संस्कार न होना उनको उत्तरमार्ग वा तत्क्षण उत्तरमार्ग की प्राप्ति का वा कर्मफल के आरम्भ का प्रतिबन्धक है । और यह कदाचित् इसलिये सम्भव हो, कि उसके लिङ्गदेह के सम्बन्ध को इस शरीर से तोड़ने में दाहसंस्कार सहायक हो। विना दाह के उस का लिङ्गदेह देर तक वहीं प्रतिबद्ध रहता हो । तथापि निर्धारण के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा है ॥ यहां उपासक के लिये दाहसंस्कार में अनादर दिखलाने से विद्या की स्तुति की गई है, यह अभिप्राय नहीं कि उसका दाहसंस्कार नहीं करना चाहिये ॥

* मिलाओ, छान्दो० उप० ५ । १० । १, बृह० आर० उप० ६ । २ । १५ और गीता ८।२४॥ शंकराचार्य यहां अर्चि, दिन आदि से उनके अभिमानी देवता लेते हैं ॥

† 'इस' इस विशेषण देने से यह सूचित किया है, कि इस कल्प में उनकी आवृत्ति नहीं होती, किन्तु कल्पान्तर में होती है (आनन्दगिरि)

सोलहवां खण्ड *

एष हवै यज्ञो योऽयं पवते। एष ह यन्निद ँ सर्वं पुनाति। यदेष यन्निद ँ सर्वंपुनाति, तस्मादेषएव यज्ञः। तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी। १।

तयोरन्यतरां मनसा स ँ स्करोतिब्रह्मा, होताऽध्वर्यु रुद्गाताऽन्यतरां। स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके,पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति। २।

अन्यतरामेव वर्तनिं ँ सँ स्करोति हीयतेऽन्यतरा। स यथैकपाद् व्रजन् रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यति, एवमस्य यज्ञो रिष्यति,यज्ञ ँ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति, स इष्ट्वा पापीयान् भवति। ३।

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति, उभे एव वर्तनी सँ स्कुर्वन्ति, न हीयते ऽन्यतरा। ४।

सयथोभयपाद् व्रजन् रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठति,एवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति, स इष्ट्वा श्रेयान् भवति। ५।

---

*अग्निविद्या के प्रसंग से यज्ञ में त्रुटि होने पर उसके प्रायश्चित्त के लिये व्याहृतियों का विधान और ब्रह्मा के लिये मौन का विधान करते हैं। यह विधि अरण्य (जंगल) में उपदेश किया जाता है, इसलिये उपनिषद में कहा है। इन दोनों खण्डों का विषय ऐतरेय ५। ५। ३२-३४ और गोपथ के तीसरे प्रपाठक में भी आया है॥

निःसंदेह यह यज्ञ है, जो यह शुद्ध करता है [अर्थात् वायु]*। वह [वायु] चलता हुआ हरएक वस्तु को शुद्ध करता है। और जिसलिये यह चलता हुआ [यन्] हर एक वस्तु को शुद्ध करता है, इसलिये यह यज्ञ है। उस [यज्ञ] के दो मार्ग हैं [जिनसे यज्ञ फैलता है] एक मन और दूसरा वाणी ॥ १ ॥

उनमें से एक [मार्ग] को ब्रह्म [ऋत्विज्] मन से सजाता है,† और दूसरे [मार्ग] को होता, अध्वर्यु और उद्गाता [वाणी से सजाते हैं]। जब प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होजाने पर परिधानी या [ऋचा] से पहले ब्रह्मा [ऋत्विज्] [अपना मौन त्याग देता है और] बोल पड़ता है ॥ २ ॥

तो वह केवल एकही [वाणी के] मार्ग को सजाता है, और दूसरे [मार्ग] को हानि पहुंचती है। सो जैसे कोई पुरुष एक पाओं से चलता हुआ, या रथ एक पहिये से घूमता हुआ हानि उठाता है, इस प्रकार इसका यज्ञ हानि उठाता है, जब यज्ञ को हानि पहुंचती है, तो वह (यजमान) यज्ञ करके अधिक पापी बन जाता है‡ ॥ ३ ॥

---

* समिष्ट यजु "स्वाहा वाते धा" में यज्ञ की स्थिति वायु में कही है और वायु शुद्धि का हेतु है, इसलिये वायु को यज्ञ कहा है ॥

† जब दूसरे ऋत्विज् यज्ञ में अपने २ मन्त्रों को पढ़ते हैं, ब्रह्मा ऋत्विज् चुप चाप रहता है, यज्ञ के कर्म को मन से देखता है, और यह ध्यान रखता है, कि कोई त्रुटि न हो। और यदि कोई त्रुटि हो जाए, तो वह उसका प्रायश्चित्त करता है। यह ब्रह्मा का काम यज्ञ में उपासना के सदृश है। इसलिये उसके काम का उपनिषद् में वर्णन है ॥

‡ पारलौकिक कर्म श्रद्धा भावना से और यथाविधि हो- होना चाहिये यह तात्पर्य है ॥

पर जब वह [ब्रह्मा] प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होजाने पर परिधानीया से पहले २ नहीं बोलता है [अपना मौन नहीं त्यागता है) तब वह [ऋत्विज्] दोनों मार्गों को पूरा २ सजा देते है, उन में से किसी [मार्ग] को हानि नहीं पहुंचती ॥ ४ ॥

सो जैसे कोई पुरुष दो पाओं से चलता हुआ, या रथ दोनों पाहियों से घूमता हुआ प्रतिष्ठित होता है [गिर नहीं जाता, किन्तु चला चलता है], इस प्रकार इसका [यजमान का] यज्ञ [मन और वाणी के दोनों मार्गों से चलता हुआ] प्रतिष्ठित होता है, जब यज्ञ प्रतिष्ठित होता है; तो उसके साथ यजमान प्रतिष्ठित होता है; और वह यज्ञ करके अधिक श्रेष्ठ बन जाता है ॥ ५ ॥

सत्तरहवां खण्ड

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्, तेषां तप्यमानाना ँ रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥१॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्, तासां तप्यमानाना ँ रसान् प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजू ँ षि सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्, तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहद्, भूरित्यृग्भ्यो, भुव इति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

तद् यद्यृक्तो रिष्येद्, भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयाद्, ऋचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्ट ँ सन्दधाति ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्,भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्, यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्ट ऽ संदधाति ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्, स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्, साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्ट ऽ संदधाति ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्ण ऽ सदध्यात् सुवर्णेन रजत ऽ रजतेन त्रपु त्रपुणा सीस ऽ सीसेन लोहं लोहेन दारु चर्मणा ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्ट ऽ संदधाति । भेषजकृतो हवा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

एष हवा उदक्प्रवणो यज्ञो, यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति । एवंविद ऽ हवा एषा ब्रह्माणमनुगाथा 'यतो यत आवर्तते, तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥

मानवो' । ब्रह्मैवैकऋत्विक् 'कुरूनश्वाभिरक्षति' एवंविद्धवै ब्रह्मा यज्ञं यजमान ऽ सर्वा ऽ श्चर्त्विजोऽभिरक्षति । तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

प्रजापति ने लोकों (पृथिवी,अन्तरिक्ष और द्यौ) को तपाया और जब वह तपे, तो उसने उनके रस निचोड़े, अग्नि पृथिवी से, वायु अन्तरिक्ष से, सूर्य द्यौ से ॥ १ ॥

तब उसने इन तीन देवताओं को तपाया, और जब वह तपे, तो उसने उन के रसों को निचोड़ा, ऋचाएं अग्नि से, यजु वायु से, साम आदित्य (सूर्य) से ॥ २ ॥

तब उसने इस त्रयी विद्या (ऋचा, यजु और सामकी) विद्या को तपाया,और जब तप तपी,तो उसने इस केरस निचोड़े, भूः यह (व्याहृति) ऋचाओं से, भुवः यह (व्याहृति) यजुओं से, स्वः यह (व्याहृति) सामों से ॥ ३ ॥

सो यदि ऋचाओं की ओर से (यज्ञ को) क्षति पहुंचे (अर्थात् होता के कर्म में कोई त्रुटि वा प्रमाद हो), तब उसे 'भूः स्वाहा' कहते हुए गार्हपत्य में आहुति देनी चाहिये। इस प्रकार वह ऋचाओं के ही रससे और ऋचाओं के ही वीर्य (शक्ति)से यज्ञ के उसक्षत (घाव) को मेल देता है जो ऋचा सम्बन्धी है * ॥४॥

और यदि यजु की ओर से क्षति पहुंचे (अध्वर्यु के काम में कोई त्रुटि वा प्रमाद हो)तब उसे 'भुवःस्वाहा' कहते हुए दक्षिणाग्नि में आहुति देनी चाहिये। इस प्रकार वह यजुओं के ही रस से यजुओं के ही वीर्य(शक्ति) से यज्ञ के उस क्षत को मेलदेता है जो यजु सम्बन्धी है ॥ ५ ॥

---

*अर्थात् ऋचाओं के वा ऋचा सम्बन्धिकर्म के न होने वा अन्यथा होने से यज्ञका जो भाग क्षत हुआ है, उसको वह इस आहुति से भर देता है। जैसे शरीर का क्षत चिकित्सा से भरजाता है, इसी प्रकार

और यदि सामों की ओर से क्षति पहुंचे [उद्गाता के कर्म में त्रुटि वा प्रमाद हो] तो उसे 'स्वः स्वाहा' कहते हुए आहवनीय में आहुति देनी चाहिये। इस प्रकार वह सामों के ही रस से और सामों के ही वीर्य [शक्ति] से यज्ञ के उस क्षत को मेल देता है, जो सामसम्बन्धी है * ॥ ६ ॥

सो जैसे कोई लवण† के द्वारा सोने को सोने से मेल देवे, चांदी को चांदी से, कलई को कलई से, सिक्के को सिक्के से, लोहे को लोहे से, और चमड़े के द्वारा लकडी को (मेल देवे, बांध देवे) इस प्रकार वह (ब्रह्मा) इन लोकों के, इन देवताओं के, इस त्रयी विद्या के वीर्य (शक्ति) से (अर्थात् व्याहृतियों से) यज्ञ के क्षत को मेल देता है। निःसंदेह इस यज्ञ का औषध किया गया है जहां ऐसा जानने वाला ब्रह्मा होता है ॥ ८ ॥

यह यज्ञ उत्तर की ओर झुकने वाला होता है, ‡ जहां ऐसा जानने वाला ब्रह्मा होता है। और ऐसे ब्रह्मा के विषय में यह गाथा § है 'जहां २ से वापिस आता है, वहां २ मानव (मनुष्य मनु की सन्तान) पहुंचता है' ॥ ९ ॥

---

*और ब्रह्मा के काम में क्षति हो, तो तीनों अग्नियों में तीनों महाव्याहृतियों से होम करे, क्योंकि ब्रह्मा त्रयी विद्यासे बनता है (शंकराचार्य)

† लवण, क्षार, टंक, जिस से सोना चांदी गलाते हैं ॥

‡ उत्तर की ओर झुकता हुआ, दक्षिण की ओर से ऊपर, [illegible] होता है। अर्थात् उत्तर मार्ग (शुक्लगति) के प्रति हेतु होता है, यह तात्पर्य है (शंकराचार्य)

§ आनन्दगिरि कहता है, कि गाथा गायत्री आदि छन्दों से भिन्न छन्द वाली होती है, तथापि यह गाथा (या, शंकराचार्य के अनुसार अनुगाथा)

[अर्थात] अकेला ब्रह्मा ऋत्विज् ही 'वह कुरुओं की रक्षा करता है जैसे घोड़ी (रक्षा करती है)'। (अर्थात) ऐसा जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ की यजमान की और सारे ऋत्विजों की रक्षा करता है। इसलिये उसी को ब्रह्मा बनाना चाहिये, जो यह (१६,१७ खण्ड की विद्या को) जानता है, उसको नहीं, जो यह नहीं जानता, हां, उसको नहीं, जो यह नहीं जानता ॥ १० ॥

पांचवां प्रपाठक * (पहला खण्ड)

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

प्राय: गायत्री छन्द में है। इसका असली पाठ यह है 'यतो यत आवर्तते, तत्तद् गच्छति मानव', कुरूनश्वाभिरक्षति' और यह किसी पुरानी ऐतिहासिक घटना से लीहुई प्रतीत होती है। इस में कुरुओं में से किसी एक बड़े शूरवीर की और उसकी घोड़ी की महिमा गाई गई है-अर्थ यह है 'जहा २ से (सेना) पीछे लोटती है, वहा२ वह मानव (मनु की सन्तान) पहुंचता है। घोड़ी कुरुओं की रक्षाकरती है (अर्थात् घोड़ी बड़े वेग से कुरुओं की सहायता के लिये उसे वहा पहुंचाती है, जहा उसकी सेना के पाओं उखड़ गए है)'। यह गाथा यहा यज्ञ को सफल बनाते हुए ब्रह्मा के विषय में लगाई गई है, कि जहा कहीं वह यज्ञ में क्षति देखता है, वहीं पहुंचता है, और कुरुओं की अर्थात् यज्ञ के करने वालों को रक्षा करता है॥

* इस प्रपाठक का उद्देश्य उन भिन्न २ मार्गों का प्रकट करना है, जिन पर लोग मरने के पीछे चलते है। इन मार्गों में से एक देवपथ है जो ज्ञानियों का मार्ग है। जो ब्रह्म को प्राप्त कराता है, जहां से पुनरावृत्ति नहीं होती। जैसा कि पूर्व ४।१५ में वर्णन किया है। दूसरा कर्मियों का है। और तीसरा उनका है जो उभय भ्रष्ट है, जिनका वर्णन यहीं होगा॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति । वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद, प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च । चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

यो ह वै सम्पदं वेद, सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च । श्रोत्रं वाव सम्पत् ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

* जो सबसे बड़े और सबसे अच्छे को जानता है, वह सब से बड़ा और सबसे अच्छा बन जाता है † । प्राण निःसंदेह सबसे बड़ा और सबसे अच्छा है ‡ ॥ १ ॥

---

* पिछले ग्रन्थ में अध्यात्मोपासना में प्राय. प्राण का ग्रहण किया गया है, इसका हेतु यह है, कि इस जीवित पुरुष में प्राणही सबसे श्रेष्ठ है। यह यहां दिखलाते हैं। यह सारा विषय , बृहदारण्यक ६ । १ में भी है उससे मिलाओ ॥

† 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'। सब से बड़ा होने से यह अभिप्राय है, कि वह बहुत बड़ी आयुको भोगता है ॥

‡ प्राण सब से बड़ा इस लिये है, कि वह गर्भ में दूसरे इन्द्रियों के प्रगट होने से पहले अपना काम आरम्भ करता है। दूसरे इन्द्रिय अपने२ स्थानों के बनजाने पर पीछे अपना काम आरम्भ करते हैं। ‥ प्राण की श्रेष्ठता यहांही निर्धारण करेंगे ॥

जो सबसे बढ़कर अमीर को जानता है, वह अपनों में सबसे बढ़कर अमीर होता है। वाणी निःसंदेह सब से बढ़ कर अमीर है॥२॥

जो दृढ़ स्थिति को जानता है, वह इस लोक और उस लोक में दृढ़ स्थित होता है। नेत्र निःसंदेह दृढ़ स्थिति है॥ ३ ॥

जो सम्पदा को जानता है, उसकी दैवी और मानुषी दोनों प्रकार की कामनाएं सम्पन्न (सफल) होती है, श्रोत्र निःसंदेह सम्पदा है ॥ ४ ॥

जो घर (आश्रय) को जानता है, वह अपनो का घर बनता है। मन निःसदेह घर है* ॥ ५ ॥

अथ ह प्राणा अह ँ श्रेयसि व्यूदिरे, 'अह ँ श्रेयानस्म्यह ँ श्रेयानस्मीति'। तेह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः 'भगवन्! को नः श्रेष्ठ इति'। तान् होवाच 'यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत, स वः श्रेष्ठ इति'॥ ७ ॥

सा ह वागुच्चक्राम, सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच। 'कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति'। 'यथा कला अवद-

* वाणी सब से बढकर अमीर है, क्योंकि अच्छा बोलने वाले दूसरों को दबालेते हैं। नेत्र दृढस्थिति है, क्योंकि नेत्र से देखता हुआ पुरुष सम और विषम दोनों जगह दृढ खड़ा होसक्ता है। श्रोत्र सम्पदा है, क्योंकि श्रोत्र से वेद सुना जाता है, और तदनुसार कर्म करने से सम्पदा मिलती है। मन घर है, क्योंकि इन्द्रिय जो अपने २ विषयों के ज्ञान की भेंट आत्मा को देना चाहते हैं, वह मन में रख देते हैं (शंकराचार्य)

न्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति ' प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच ' कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति' । ' यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति ' । प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच ' कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ' । ' यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति'।प्रविवेश ह श्रोत्रम्॥१०॥

मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच 'कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ' । ' यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति ' । प्रविवेश ह मनः ॥११॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्सयथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत् । तꣳ हाभिसमेत्योचुः ' भगवन्नेधि, त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि, मोत्क्रमीरिति'॥ १२ ॥

अथ हैनं वागुवाच 'यदहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति'। अथ हैनं चक्षुरुवाच 'यदहं प्रतिष्ठास्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठासीति'॥ १३॥

अथहैन ँ श्रोत्रमुवाच 'यदह ँ सम्पदास्मि त्वं तत्सम्पदसीति'। अथ हैनं मन उवाच 'यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति'॥ १४॥

न वै वाचो न चक्षू ँ षि न श्रोत्राणि न मना ँ सीत्याचक्षते' प्राणा इत्येवाचक्षते, प्राणोह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥ १५॥

'मैं श्रेष्ठ हूं' इस विषय में प्राणों (मुख्य प्राण और इन्द्रियों) का झगड़ा हुआ * (हर एक कहता था) 'मैं श्रेष्ठ हूं, मै श्रेष्ठ हूं'॥ ६॥

तब वह प्राण अपने पिता प्रजापति के पास गए और कहा 'भगवन्! कौन हम में से श्रेष्ठ है'। उसने उत्तर दिया 'तुम में से जिस के निकल जाने पर यह शरीर बहुत बुरा सा दीखे, वह तुम में श्रेष्ठ है'॥ ७॥

तब वाणी बाहर चली गई, और वह बरस भर बाहर रह कर वापिस आई और कहा 'कैसे तुम मेरे बिना जीसके?' उन्हों ने उत्तर दिया 'जैसे गूंगे न बोलते हुए, पर प्राण से सांस लेते हुए, नेत्र से

* यह आख्यायिका (प्राण संवाद, या प्राण विद्या) बृह० आर० उप० ६। १। १-१४; माध्यन्दिन शतपथ १४। १९। २; ऐत० आ० २।४; कौषी० उप० ३। ३ और प्रश्न० उप० २। ३ में भी है॥

देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, और मन मे ध्यान (ख्याल) करते हुए (जीते हैं) वैसे (हमजिये)'। तब वाणी (अपनी जगह) प्रविष्ट होगई ॥ ८ ॥

अब नेत्र चलागया और वह वरसभर बाहर रह कर वापिस आया और कहा 'कैसे तुम मेरे विना जिसके ?' उन्हों ने उत्तर दिया 'जैसे अन्धे न देखते हुए, पर प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए,श्रोत्र से सुनते हुए,मन से चिन्तन करते हुए(जीते हैं) वैसे (हमजिये)'। नेत्र भी प्रविष्ट होगया ॥ ९ ॥

अब श्रोत्र चलागया और वह वरस भर बाहर रह कर वापिस आया और कहा 'कैसे तुम मेरे विना जीसके'? उन्हों ने उत्तर दिया 'जैसे बहरे न सुनते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए वाणी से बोलते हुए और मन से चिन्तन करते हुए जीते हैं, वैसे (हमजिये) तब श्रोत्र भी प्रविष्ट होगया ॥ १० ॥

अब मन चलागया, और वह वरस भर बाहर रहकर वापिस आया और कहा 'कैसे तुम मेरे विना जी सके ?' (उन्हों ने उत्तर दिया) 'जैसे बाल जो अभी विना मन के हैं (जो देखते तो हैं, पर अभी उनमें संकल्प विकल्प नहीं उठते) प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए और श्रोत्र से सुनते हुए (जीते हैं) वैसे (हमजिये) तब श्रोत्र (भी अपनी जगह) प्रविष्ट होगया ॥ ११ ॥

अब प्राण जब निकलने को तय्यार हुआ, तो उसने दूसरे प्राणों (इन्द्रियों) को इस तरह उखाड़ दिया, कि जैसे एक उत्तम घोड़ा अगाड़ी पिछाड़ी के कीलों को उखाड़ देता है (जब वह चलने को होता है)। तब (इन्द्रिय) उसके पास

आए और कहा 'भगवन् ! तुम हो (हमारे स्वामी), तुम हम में से श्रेष्ठ हो, बाहर मत निकलो' ॥ १२ ॥

तब उसे वाणी ने कहा 'जो मे सब से बढ कर अमीर हूं, वह तुम सब से बढकर अमीर हो [मेरी अमीरी सारी तेरे अधीन है, इसलिये वह तेरी ही है]'। नेत्र ने कहा 'जो मैं दृढस्थिति हू, वह तू दृढस्थिति है' ॥ १३ ॥

श्रोत्र ने कहा 'जो मैं सम्पदा हू, वह तू सम्पदा है'। मन ने कहा 'जो मैं घर हू, वह तू घर है' ॥ १४ ॥

सो लोग (उन सारे इन्द्रियों को] न वाणी कहते है, न नेत्र, न श्रोत्र, न मन (कहते है) किन्तु प्राण यही कहते है, क्योंकि प्राणही यह सारे है * ॥ १५ ॥

दूसरा खण्ड

सहोवाच 'किं मेऽन्नं भविष्यतीति' 'यत्किञ्चिददमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति' होचुः। तद्वाएतदनस्यान्नं। अनो हवै नाम प्रत्यक्षम्। न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति ॥ १ ॥

सहोवाच 'किं मे वासो भविष्यतीति' 'आप इति'

---

* यदि वाणी, नेत्र, श्रोत्र या मन इन में से कोई सब से बढकर श्रेष्ठ इन सब का आश्रय, सब का मालिक होता, तो सारे उसी के नाम से पुकारे जाते। प्राण सब से श्रेष्ठ है, दूसरे इन्द्रियों की स्थिति भी प्राण के ही अधीन है। इसलिये प्राण यही नाम सारे इन्द्रियों का है ॥

होचुः, तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥२॥

तद्धैतत् सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्या योक्त्वोवाच 'यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥ ३ ॥

उस (प्राण) ने कहा 'मेरा अन्न क्या होगा ?' उन्होंने उत्तर दिया 'जो कुछ यह है कुत्तों तक और पक्षियों तक *'। इसलिये यह अन का अन्न है। अन यह नाम साफ है† । जो यह जानता है इसके लिये कोई वस्तु अनन्न नहीं होती है ‡ ॥ १ ॥

उसने कहा 'मेरा वस्त्र क्या होगा ?' उन्होंने उत्तर दिया 'जल'। इसलिये जब खाना खाने लगते हैं, तो पहले और पीछे जलों से ढांप देते हैं § यह सदा वस्त्र लाभ करता है और कभी नंगा नहीं होता है (जो यह जानता है) ॥ २ ॥

---

* अभिप्राय यह है, कि हर एक प्रकार का अन्न चाहे वह कुत्तों से खाया जाता है, या पक्षियों से, प्राण की ही खुराक है ॥

† सारे प्राणों का अन यह नाम असली है, प्र+अन=प्राण अप+अन=अपान आदि उसके विशेषकार्यों के हेतु उसके विशेष नाम हैं ॥

‡ यह अभिप्राय नहीं, कि ऐसा जानने वाले के लिये भक्ष्याभक्ष्य का भेद नहीं रहता, किन्तु ऐसा जानने वाले ने प्राणों की रक्षा के उद्देश्य से जो कुछ भी खाया है, वह उसे पापी नहीं ठहराता (देखो पूर्व १ । १ में उपस्ति चाक्रायण का इतिहास)

§ अर्थात् खाने से पहले और पीछे जो आचमन किया जाता है वह प्राण को वस्त्र पहनाना (ढांपना) है ॥

यह रहस्य सत्यकाम जाबाल ने गोश्रुति वैयाघ्रपद्य (व्याघ्रपाद् की सन्तान) को उपदेश करके कहा 'कि यदि कोई इसे सूखी छड़ी को भी उपदेश करे, तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न होजाएं, और पत्ते फूट निकलें' ॥ ३ ॥

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्या ँ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनो रुपमथ्य 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहे'त्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ४ ॥

'वसिष्ठाय स्वाहे' त्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत । 'प्रतिष्ठायैस्वाहे'त्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्।'सम्पदे स्वाहे' त्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्।'आयतनाय स्वाहे'त्यग्ना वाज्यस्यहुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थ माधाय जपति'अमो नामास्यमा ते सर्व मिद ँ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः ज्यैष्ठ्य ँ श्रैष्ठ्य ँ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेद ँ सर्व मसानीति' ॥ ६ ॥

अथखल्वेतयर्चा पच्छः आचामति 'तत्सवितुर्वृणीमहे' इत्याचामति। 'वयं देवस्य भोजनम'इत्याचामति।'श्रेष्ठ

सर्वधातमम्' इत्याचामति। 'तुरं भगस्य धीमहि' इति सर्वं पिबति ॥ ७ ॥

निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः। स यदि स्त्रियं पश्येत्, समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ८ ॥

तदेष श्लोकः 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति। स मृद्धिं तत्र जानीयात तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने' ॥ ९ ॥

* अब यदि वह माहिमा [बड़ाई] को पहुंचना चाहता है, तो उसे चाहिये,कि वह पहिले अमावास्या के दिन दीक्षा† लेकर फिर पौर्णमासी की रात्री को हर एक प्रकार की ओषधियों के चूर्ण को [किमीपात्र में] दही और शहद में विलोकर रखदे, और 'सबसे बड़े के लिये और सबसे श्रेष्ठ के लिये स्वाहा' यह कहते हुए (आवसथ्य अग्नि में) घीकी आहुती देकर [स्रुवमे लगेहुए] संस्रव [चूते हुए घी] को मन्थ में डाले ॥ १ ॥

---

* अब महत्त्व की प्राप्ति के लिये मन्थकर्म बतलाते हैं, इसका अधिकारी पूर्वोक्त प्राणविद्या का जानने वाला है। मिलाओ बृह० आर० उप० ६।३।

† यहां असली दीक्षा (जो सोमयज्ञों के आरम्भ की विधि है) से तात्पर्य नहीं, किन्तु तप, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य आदि दीक्षा के धर्म पालन से तात्पर्य है॥

[इसी प्रकार] 'सबसे बड़े अमीर के लिये स्वाहा' यह कह कर घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ में डाले। 'दृढ़स्थिति के लिये स्वाहा' यह कह कर अग्नि में घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ में डाले। 'सम्पदा के लिये स्वाहा' यह कहकर अग्नि में घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ में डाले। 'घरके लिये स्वाहा' यह कह कर अग्नि में घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ में डाले* ॥ ५ ॥

तब (अग्नि से) थोड़ा पीछे हट कर मन्थ को अञ्जलि में रख कर जप करे 'तू हे प्राण अम नाम वाला है,† क्योंकि यह सब (सारा जगत्) तेरे साथ है (अमा) (तेरे साथही सब प्राणधारियों की सत्ता (हस्ती है) वह (प्राण) सब से बड़ा है, सब से श्रेष्ठ है, राजा है, अधिपति (स्वतन्त्र मालिक) है। वह मुझे सब से बड़ा, सब से श्रेष्ठ राजा और अधिपति बनाए। मैंही यह सब कुछ हो जाऊं' ॥ ६ ॥

तब वह इस ऋचा के एक २ पाद से (उस मन्थ में से) आचमन करे 'तत्सवितुर्वृणीमहे' यह कह कर आचमन करे 'वयं देवस्य भोजनम्' यह कह कर आचमन करे 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्' यह कह कर आचमन करे 'तुरं भगस्य धीमहि ‡' यह कह कर सारा पी लेता है ॥ ७ ॥

---

* जो २ गुण पूर्व (४ । १ । १-४ में) प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन के बतलाए हैं, उन्हीं नामों से यहां आहुतियां कहीं हैं ॥

† मिला छां० बृ० आ० उप० १ । १ । ३ । २२

‡ सारे मन्त्र का अर्थ यह है, 'हम सविता देव (प्राण) के उस अन्न को पसन्द करते हैं, जो सब से अच्छा और सब से बढ़ कर सब का धारण करनेवाला है। हम भग (सविता, प्राण) के तेज को चिन्तन करते हैं, यहां सविता और प्राण की एकता करके यह ऋचा दिखलाई गई है ॥

कंसे वा चमसे को धोकर (रखदेता है और) वह अग्नि के के पीछे चमड़े (मृगाजिन) पर वा नंगी भूमि पर बैठजाता है, न बोलता हुआ, न कोई और साहस करता हुआ । अब यदि वह स्वप्न में स्त्री को देखे, तो यह जाने, कि उस का कर्म सफल होगया है ॥ ८ ॥

इस पर यह श्लोक है 'जब यह काम्य कर्मों में स्वप्न के अन्दर स्त्री को देखता है, तो वह उस (कर्म) में सफलता जाने, ऐसे स्वप्न के देखने पर, हां, ऐसे स्वप्न के देखने पर ॥ ९ ॥

तीसरा खण्ड *

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालाना ँ समितिमेयाय । त ँ हप्रवाहणो जैवलिरुवाच 'कुमारानुत्वाऽशिषत् पितेति' 'अनु हि भगव इति' ॥ १ ॥

'वेत्थ यदितोऽधिप्रजाःप्रयन्तीति' 'न भगव इति' 'वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ता ३ इति' 'न भगव इति' 'वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति' 'न भगव इति' ॥ २ ॥

'वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यता ३ इति' 'न भगव इति' 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति' 'नैव भगव इति' ॥ ३ ॥

* यह कथा बृहदारण्यक ६ । २ और शतपथ १४ । ८ । १६ में पूरे विस्तार से कही गई है ॥

अथ नु किमनुशिष्टोऽवोचथाः ? यो हीमानि न
त्, कथ ँ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति।सहायस्तः पितुरर्द्ध
य।तं ँ होवाच 'अननुशिष्य वाव किल मा
ानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥४॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्, तेषां नैकंञ्च
कं विवक्तुमिति' सहोवाच 'यथा मा तदैतानवदो,
ऽहमेषां नैकञ्चन वेद, यद्यहमिमानवेदिष्यं, कथं
ावक्ष्यमिति' ॥ ५ ॥

सह गौतमो राज्ञो ऽर्द्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्च
। सह प्रातः सभाग उदेयाय। त ँ होवाच 'मानुषस्य
वन् ! गौतम'! वित्तस्य वरं वृणीथाइति' सहोवाच
वैव राजन् मानुपं वित्तं, यामेव कुमारस्यान्ते वाचम
भथास्तामेव मे ब्रूहीति' ॥ ६ ॥

सह कृच्छ्री बभूव, त ँ ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्च-
र। त ँ होवाच 'यथा मा त्वं गौतमावदो, यथेयं न
क् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति, तस्मादु सर्वेपु
ोकेषु क्षत्रस्य प्रशासनमभूदिति' तस्मैहोवाच ॥७॥

* श्वेतकेतु आरुणेय (अरुण का पोता) पञ्चालों की सभा में

---

*यह कथा बृहदारण्यक ६।२ और शतपथ १४।८।१६ में
पूरे विस्तार से कही गई है ॥

कसे वा चमसे को धोकर (रखदेता है और) वह अग्नि के के पीछे चमडे (मृगाजिन) पर वा नगी भूमि पर बैठजाता है, न बोलता हुआ, न कोई और साहस करता हुआ । अब यदि वह स्वप्न में स्त्री को देखे, तो यह जाने, कि उस का कर्म सफल होगया है ॥ ८ ॥

इस पर यह श्लोक है 'जब यह काम्य कर्मों में स्वप्न के अन्दर स्त्री को देखता है, तो वह उस (कर्म) में सफलता जाने, ऐसे स्वप्न के देखने पर, हा, ऐसे स्वप्न के देखने पर ॥ ९ ॥

तीसरा खण्ड *

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालाना ᳪ समितिमेयाय । त ᳪ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच 'कुमारानुत्वाऽशिषत् पितेति' 'अनु हि भगव इति' ॥ १ ॥

१ 'वेत्थ यदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति' 'न भगव इति'
२ 'वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ता ३ इति' 'न भगव इति'
३ 'वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति' 'न भगव इति' ॥ २ ॥

४ 'वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यता ३ इति' 'न
५ भगव इति' 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति' 'नैव भगव इति' ॥ ३ ॥

---

* यह कथा बृहदारण्यक ६ । २ और शतपथ १४ । ८ । १६ में पूरे विस्तार से कही गई है ॥

अथ नु किमनुशिष्टोऽवोचथाः ? यो हीमानि न विद्यात्, कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति। सहायस्तः पितुरर्द्धमेयाय। तं होवाच 'अननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥४॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्, तेषां नैकंञ्च नाशकं विवक्तुमिति' सहोवाच 'यथा मा तदैतानवदो, यथाऽहमेषां नैकञ्चन वेद, यद्यहमिमानवेदिष्यं, कथं ते नावक्ष्यमिति'॥ ५ ॥

सह गौतमो राज्ञो ऽर्द्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार। सह प्रातः सभाग उदेयाय। तं होवाच 'मानुषस्य भगवन् ! गौतम ! वित्तस्य वरं वृणीथाइति' सहोवाच 'तवैव राजन् मानुषं वित्तं, यामेव कुमारस्यान्ते वाचम भाषथास्तामेव मे ब्रूहीति' ॥ ६ ॥

सह कृच्छ्री बभूव, तं ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार। तं होवाच 'यथा मा त्वं गौतमावदो, यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्रह्मणान् गच्छति, तस्मादु सर्वेषु लोकेषुक्षत्रस्य प्रशासनमभूदिति' तस्मैहोवाच ॥७॥

* श्वेतकेतु आरुणेय (अरुण का पोता) पञ्चालों की सभा में

*यह कथा बृहदारण्यक ६। २ और शतपथ १४। ८। १६ में पूरे विस्तार से कही गई है॥

आया। प्रवाहण जैवलि * (जीवल की सन्तान) ने उसे कहा 'कुमार! क्या तुम पिता से शिक्षा पा चुके हो'? (उसने उत्तर दिया) 'हां भगवन्' ॥ १ ॥

(प्रवाहण ने पूछा) 'क्या तुम जानते हो, यह मनुष्य (मरकर) यहां से कहां जाते हैं' (उसने उत्तर दिया) 'नहीं हे भगवन्'। 'तो क्या तुम जानते हो, जैसे वह फिर लौटते हैं' 'नहीं हे भगवन्' 'तो क्या तुम जानते हो, कहां देवों का और पितरों का मार्ग अलग २ होते हैं' 'नहीं हे भगवन्!' ॥ २ ॥

'तो क्या तुम जानते हो, कि (यहां से लगातार जाते हुए लोगों से) वह लोक † क्यों भर नहीं जाता?' 'नहीं हे भगवन्!' 'तो क्या तुम जानते हो, कि किस तरह पांचवीं आहुति में जल पुरुष कहलाते हैं' 'नहीं हे भगवन्!' ॥ ३ ॥

'तब तूने कैसे कह दिया, कि मैं शिक्षा पाचुका हूं, ? जो पुरुष इन बातों को नहीं जानता, वह कैसे कह सक्ता है, कि मैं शिक्षा पाचुका हूं'? तब वह शोकातुर हुआ अपने पिता के स्थान को वापिस आया, और कहा 'भगवन्! पूरी शिक्षा दिये बिना ही आप ने मुझे कहा, कि तुझे शिक्षा दे दी है ॥ ४ ॥

पांच प्रश्न मुझे उस क्षत्रियबन्धु ‡ ने पूछे हैं, उनमें से मैं एक

---

* यह वही क्षत्रिय ऋषि है, जिसने पूर्व (१।८।१) उद्गीथ-विद्या में दो ब्राह्मणों को जीता है॥

† यह लोक = पितरों का लोक (शंकराचार्य)

‡ क्षत्रियबन्धु, वह, जिसके बन्धु क्षत्रिय हैं। जो क्षत्रियों में रहा सहा और पला है, उसमें विद्या के विषय में एक ब्राह्मण के पराजित होने से बहुत बड़ी त्रुटि जानकर श्वेतकेतु ने यह प्रयोग किया है॥

का भी उत्तर नहीं देसका, ' पिता ने कहा ' जैसा तूने मुझे उसके यह प्रश्न बतलाए है,*इन में से तो मै भी एक भी नही जानता, यदि मै इनको जानता, तो कैसे तुझे न कह देता ' ? ॥ ५ ॥

तब गौतम (श्वेतकेतु का पिता) राजा के स्थान को गया, और जब वह वहा पहुचा, तो राजा ने उसका आदर किया। प्रातःकाल जब राजा सभा में गया, तो गौतम उसके पास पहुचा। राजा ने उसे कहा ' भगवन् ! गौतम! ऐसा वर कोई एक माग लो, जो मानुष धन से सम्बन्ध रखता हो (अर्थात् कुछ रुपया वा ग्राम आदि)' उसने उत्तर दिया ' हे राजन् ! मानुष धन तेरा ही रहे। मुझे तो वही बात बतलाओ, जो कुमार (मेरे पुत्र) के पास तुमने कही है' ॥ ६ ॥

राजा बड़ा तंग (दिक) हुआ, और उसे आज्ञा दी, ' कुछ समय मेरे पास ठहरो ' ओर उसे कहा ' जैसा हे गौतम ! तुमने मुझे कहा है (कि मुझे वही बात बतलाओ, जो कुमार के पास के तुमने कही हे) सो यह विद्या तुझसे पहले किसी ब्राह्मण को नहीं मिली, और इसीलिये यह शासन (इस विद्या से शिष्यों को शिक्षा देना) सारे लोको में केवल क्षत्रिय वर्ण का ही रहा है ' तब राजा ने उसे यह बतलाया ॥ ७ ॥

---

* अक्षरार्थ— जैसा तूने तब अर्थात् आते ही मुझे उसके यह (प्रश्न) बतलाए हैं। पर इस वाक्य की बनावट साफ नहीं कुछ टूटा हुआ पाठ प्रतीत होता है। बृहदारण्यक का वचन साफ है 'हे बेटा तुम मुझे ऐसा जानो, कि जो कुछ मैं जानता था, वह सब तुझे बतला दिया है' ॥

चौथा खण्ड*

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्यएव समिद्रश्मयोधूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमाअङ्गारानक्षत्राणिविस्फुलिङ्गाः१

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥ २ ॥

†वह [द्यौ] लोक है गौतम! अग्नि है, सूर्य ही उसकी समिधा है,

---

* पांचवें प्रश्न (किस तरह जल पांचवीं आहुति में पुरुष कहलाते हैं) का उत्तर पहले आरम्भ करते हैं, क्योंकि दूसरे प्रश्नों का निर्णय इस प्रश्न के निर्णय के अधीन है ॥

† शतपथब्राह्मण में यह वर्णन है, कि अग्निहोत्र के विषय में जनक ने याज्ञवल्क्य से छः प्रश्न पूछे थे(१) कि यह दोनों (अर्थात सायं प्रातः की) आहुतियें, किस तरह इस लोक से ऊपर उठती हैं ? (२) किस तरह आगे जाती हैं ? (३) कहां ठहरती हैं ? (४) क्या वहां फल देती हैं ? (५) किस तरह फिर इस लोक की ओर लौटती हैं ? (६) और इस लोक में आकर फिर कैसे उठती हैं ?

इन प्रश्नों में अग्निहोत्र का वह साधारण फल नहीं पूछा गया, जो इसी लोक और इसी जीवन में मिल जाता है, अर्थात् जो होमा हुआ द्रव्य अग्नि से छिन्न भिन्न होकर ऊपर उठता है, और वह आकाश में आगे जाता हुआ, ऊंचा जा ठहरता है, वहां वह वायु और उसमें स्थित जल को स्वच्छ और पुष्ट करता है, मेघ के रूप में नीचे उतरता है और ओषधि आदि के रूप में फिर इस लोक में उठता है। किन्तु अग्निहोत्र का यहां वह असाधारण फल पूछा गया है, जो यजमान को परलोक में और पर जन्म में मिलता है। होम की हुई हुता-

तियें जिस तरह एक सूक्ष्मरूप धारण करके आकाश में प्रवेश करती हैं उसी तरह एक दूसरा अत्यन्त सूक्ष्मरूप धारकर आहुति देने वाले के अन्तःकरण में प्रवेश करती हैं। यह रूप वह है, जो श्रद्धा से यथा विधि आहुति देते समय एक आस्तिक पुरुष के चित्त पर उस कर्म के शुभ संस्कार पड़ते हैं। इन्हीं संस्कारों को वासना, अपूर्व और अदृष्ट भी कहते हैं। यही वह धर्म है, जो मरने के पीछे मनुष्य के साथ जाता है॥ अब आहुतियों के दो रूप बनगए, एक जो सूक्ष्मरूप से आकाश में प्रवेश करता है, और दूसरा जो संस्कार रूप से अन्तःकरण में। इनमें से आकाश सबका सांझा है, इसलिये आकाश में प्रविष्ट आहुतियें सबके लिये सांझा फल उत्पन्न करती हैं अर्थात् वृष्टि। पर अन्तःकरण अपना २ अलग है, सो उसमें प्रविष्ट हुई आहुतियें (संस्कार) उसी के परलोक और परजन्म को संवारती हैं, जो उन का देने वाला है। यह आहुतियें किस तरह उसके परलोक और पर जन्म को संवारती है, उस के लिये यह प्रश्न हैं। अर्थात् दीहुई आहुतियें जो संस्कार रूप से यजमान के चित्त में स्थित हैं, वह मरने के पीछे किस तरह ऊपर उठती हैं इत्यादि। वहां जो उत्तर दिये हैं, उनका सारांश यह है। यह सूक्ष्मरूप (वासनारूप) आहुतियें (सूक्ष्म शरीर में) यजमान को लपेटे हुए उसके साथ उठती हैं, जब वह इसलोक से ऊपर उठता है। फिर वह यजमान अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है, तो वह उसके साथ अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं। (यह अग्निहोत्र की आहुतियें हैं, इसलिये इन का फल प्रगट करने के लिये भी सब जगह अग्निहोत्र की ही कल्पना की गई है। जैसे) जब वह अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं, तो अन्तरिक्ष को आहवनीय बनालेती हैं, वायु को समिधा इत्यादि। वहां वह अन्तरिक्ष में रहकर यजमान को तृप्त करती हैं। फिर जब यजमान अन्तरिक्ष से ऊपर द्यौलोक में जाता है, तो वह उस के साथ द्यौलोक में जाती हैं।

इस अग्नि में देवता श्रद्धा* की आहुति देते हैं, उस आहुति से राजा सोम [चन्द्र] † उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

पांचवां खण्ड

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति, तस्या आहुतेर्वर्षꣳ सम्भवति ॥ २ ॥

वहां वह द्युलोक को आहवनीय बनाती है (इत्यादि) और फल देकर यजमान को तृप्त करती है । फिर जब फल भोगकर यजमान पृथिवी की ओर लौटता है, तो वह उसके साथ लौटती है। इस प्रकार शतपथ में इन के सविस्तर उत्तर दियेगए हैं । और यहां छान्दोग्य के इस प्रकरण में वह यजमान द्युलोक से जिस प्रकार लौटता है, और जो २ रूप बनता चला आता है, उसका वर्णन है । यहां भी तद्वत् अग्निहोत्र की ही कल्पना की गई है, जैसा कि 'वह लोक अग्नि है' इत्यादि । यहा द्युलोक में उतरने से आरम्भ करके मनुष्य जन्म लेने तक पाचअग्नियोंकी कल्पनाकी गईहै।यही पञ्चाग्निविद्याकहलाती है॥

* यहा श्रद्धा से अभिप्राय वह आहुतियें हैं, जो यजमानने पहले अग्नि में होमी हुई हैं, और अब वासनारूप में यजमान के साथ हैं । यह आहुतियें होम के समय द्रवमय (घी, दूध आदि) वा द्रव-प्रधान होती हैं, इसलिये इन को जल मानकर यह प्रश्न किया है, कि 'किस तरह जल पांचवी आहुति में पुरुष कहलाते हैं' यह वही होम के जल (द्रव) अब श्रद्धारूप हैं (क्योंकि श्रद्धा के बल से इस रूप में आए है) जो यहां पहली आहुति की वस्तु है । श्रद्धा से जल अभिप्रेत हैं, इस पर देखो वेदान्त ३ । १ । ५ ॥

† यह श्रद्धा अब जिस रूप में परिणत होती है, वह सोम की प्रकृति वाला सोम कहलाता है ॥

मेघ है गौतम ! अग्नि है, वायुही उसकी समिधा है, धुंध धुआं है, बिजली लाट है, वज्र अंगारे हैं, बिजली की कडकें चिंगाड़ियां हैं॥१॥

इस अग्नि में देवता सोमराजा की आहुति देते हैं, उस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है (अर्थात् वही श्रद्धा नामी जल जो पहले परिणाम में सोमरूप हुए थे, अब दूसरे परिवर्तन में पर्जन्याग्नि को प्राप्त होकर वृष्टिरूप से परिणत होते हैं) ॥ २ ॥

छठा खण्ड

पृथिवी वाव गौतमाग्नि स्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रि रर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुव्हति, तस्या आहुते रन्नꣳ सम्भवति ॥ २॥

पृथिवी है गौतम ! अग्नि है, सम्वत्सर ही उसकी समिधा है आकाश धुआं है, रात्रि लाट है, दिशाएं अङ्गारे हैं, अवान्तर दिशाएं, [कोणें] चिंगाड़ियां हैं ॥ १ ॥

इस अग्नि में देवता वर्षा की आहुति देते हैं, उस आहुति से अनाज उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

सातवां खण्ड

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेवसमित् प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराःश्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुव्हति, तस्या आहुतेः रेतः सम्भवति ॥ २ ॥

पुरुष है गौतम ! अग्नि है, वाणी ही उसकी समिधा है, सांस धुआं है, जिह्वा लाट है, नेत्र अंगारे है, श्रोत्र चिंगारियां है ॥१॥

इस अग्नि में देवता* अन्न को होमते हैं, उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है[अन्न वही पहली आहुति इस क्रम से वीर्य के रूप में परिणत होती है] ॥ २ ॥

आठवां खण्ड

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुव्हति,तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥

स्त्री है गौतम अग्नि है ""* ॥१॥

इस अग्नि में देवगण [प्राण] बीज की आहुति देते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

नवां खण्ड

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसोभवन्तीति । स उल्वावृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाऽथ जायते ॥ १ ॥

स जातो यावदायुषं जीवति, तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति ॥ २ ॥

* यहां देवता प्राण [इन्द्रिय] है, जो अधिदैवत में इन्द्रादि देवता है, वही अध्यात्म में प्राण आदि हैं ॥

* शेष अर्थ मूल से देखो ॥

इस प्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुष कहलाते हैं*। अब वह गर्भ चमड़े से लपेटा हुआ दस महीने अथवा जितना चिर (न्यून अधिक) अन्दर रह कर तब उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

वह जन्म लेकर जब तक उसका आयु है जीता है। जब वह मरता है, और अब जिसे कर्मों ने अगला रस्ता बतला दिया है। तो उसे अग्नि (चिता की अग्नि) के लिये ही ले जाते हैं, जहां से (श्रद्धा आदि की आहुति के क्रम से) वह आया है, जहां से वह उत्पन्न हुआ है† ॥ २ ॥

दसवां खण्ड

तद्य इत्थं विदुर्येचेमे ऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते, ते ऽर्चिषमभि सम्भवन्त्यर्चिषो ऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमा-पूर्यमाण पक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासा ँ स्तान् ॥१॥

मासेभ्यः संवत्सर ँ संवत्सरादादित्यमादित्या-च्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो ऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

*यह पांचवें प्रश्न का उत्तर दिया गया, कि आहुति के जल जो द्यौ में श्रद्धारूप से वर्तमान थे, उनकी आहुति होकर सोम, सोम की आहुति होकर वृष्टि, वृष्टि की आहुति होकर अन्न, अन्न की आहुति होकर वीर्य और वीर्य की आहुति होकर पुरुष के रूप में फिर वापिस आ गए। अब इसके आगे पहले प्रश्न [क्या तू जानता है, कि कैसे यह प्रजाएं यहां से जाती हैं] का उत्तर आरम्भ करते हैं ॥

†जहां से = पांच अग्नियों में। इस तरह बार २ जन्मता और मरता हुआ लोक परलोक में घूमता है ॥

वह जो इस प्रकार (इस पञ्चाग्नि विद्या को और पांच अग्नियों द्वारा अपने जन्म को) जानते हैं (वह चाहे गृहस्थ भी हों) और वह जो जंगल में श्रद्धा और तप में तत्पर हैं,*वह आंच (लाट) को प्राप्त होते हैं † आंच से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष के उन छः महीनों को, जिन में सूर्य उत्तर को जाता है [उत्तरायण] ॥ १ ॥

महीनों से वरस को, वरस से सूर्य्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली [के स्थानों] को, वहां एक पुरुष है, जो अमानव है [मानुषी सृष्टि का नहीं] वह इनको ब्रह्म [शबलब्रह्म=हिरण्यगर्भ] को पहुंचा देता है । यह देवयान मार्ग है ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते, ते धूम मभिसम्भवन्ति, धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्ष मपरपक्षाद् यान् षड् दक्षिणैति मासा ं स्तान्, नैते संवत्सर माभि प्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाश माकाशा च्चन्द्रमसम् । एष सोमो राजा । तद् देवाना मन्नं, तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

पर वह जो ग्राम में इष्ट और पूर्त [यज्ञ और दूसरे सर्वोप योगी काम अर्थात् विद्यालय स्थापन करना आदि] और दान देने

---

*वानप्रस्थ और वह संन्यासी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म का साक्षात् नहीं किया है ॥

† मिलाओ छान्दोग्य ४ । १५ । ५ ॥

में तत्पर रहते हैं, वह धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्षको, कृष्णपक्ष से उन छः महीनों को, जिनमें सूर्य दक्षिण को जाता है[दक्षिणायन को] यह संवत्सर को नहीं प्राप्त होते ॥ ३ ॥

महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को यह सोम राजा है, वह देवताओं का प्यारा है, उस को देवता प्यार करते हैं* ॥ ४ ॥

---

* अक्षरार्थ—'वह देवताओं का अन्न है, उसे देवता भक्षण करते हैं' पर उपनिषदों में भक्ष केवल खाने और अन्न केवल अनाज के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं हुआ, किन्तु भक्ष, भोगने या प्यार करने के अर्थ में और अन्न, प्यारी, चाही हुई, सुख देने वाली, वा रक्षा करने वाली हर एक वस्तु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इसलिये हमने ऊपर अन्न का अर्थ प्यारा और भक्षयन्ति का अर्थ प्यार करते हैं, किया है। शंकराचार्य भी इसी आशय को प्रगट करते हुए लिखते हैं, कि यदि कर्मी जन चन्द्रलोक में पहुंच कर देवताओं का अन्न बन जाते हैं, और उन्हें देवता भक्षण करते हैं, तो उनके शुभ कर्मों का उनको क्या फल मिला ? इसलिए वह वस्तुतः खाए नहीं जाते। अन्न के अर्थ हैं, जिससे रक्षा होती है, वा जिससे सुख मिलता है, सो इसका यह तात्पर्य नहीं, कि वह देवताओं से खाए जाते हैं, किन्तु यह, कि देवताओं के आनन्द का हेतु बनते हैं। यह इसी तरह है, जैसा कि यह कहा जाता है, प्रजा स्त्री और पशु राजाओं का अन्न हैं अर्थात् उनके भोग वा सुख का साधन हैं। और यह सुख परस्पर एक दूसरे को होता है। नौकर मालिक के सुख भोग का साधन है, और मालिक नौकर के सुख भोग का साधन है। पुरुष स्त्री को प्यार करता है, और उससे प्यार किया जाता है, वह परस्पर एक दूसरे को प्यार करते हैं। एक दूसरे के सुख का हेतु हैं। इसी प्रकार यह कर्मी जन देवताओं से प्यार किये

तस्मिन्,यावत्संपात मुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशा माकाशा द्वायुं । वायुर्भूत्वा धूमो भवति । धूमो भूत्वा ऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति । मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह ब्रीहियवा ओषधि वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते । अतोवै खलु दुर्निष्प्रपतरम् । यो योह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति, तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

तद्य इह रमणीय चरणाअभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनि मापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनि वा । अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

वह वहां [चन्द्रमण्डल में] उतनी देर रहते है, जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं होते तब वह उसी मार्ग को फिर लौटते है, जैसे ,

जाते हैं. अर्थात् वह देवताओं के साथ सुख और आनन्द भोगते है, उनका शरीर उस आनन्द के भोगने के योग्य बन जाता है । जो जल द्यौ में श्रद्धारूप था, वह आहुति होकर वहां सोम राजा है (छान्दो० ५।४। १-२) केवल कर्मी जब मरता है और जलाया जाता है (छान्दो० ५।८।२) तो उसका सूक्ष्म देह उनके कर्मों के संस्कारों को लेकर धूम के साथ ऊपर उठता है, और वह संस्कार उसे सोम को ले जाते हैं, जहां वह अपने कर्मों का फल भोगता है, जब उसके कर्म समाप्त होजाते हैं, तो वह फिर वापिस आता है और नया जन्म ग्रहण करता है ॥

गयेथे *। पहले आकाश को, † आकाश से वायु को। वायु बनकर वह (यजमान) धूम बनता है, धूम बनकर धुंध बनता है ॥ ८ ॥
धुंध बन कर मेघ बनता है। मेघ बनकर बरसता है। तब वह धान, जौ, ओषधियें, वनस्पतियें, तिल और माष के रूप में यहां (पृथिवी में) जन्म लेता है। यहां से उसे निकलना बड़ा कठिन है ‡।

---

* (प्रश्न) जाने में तो महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को गये थे (छान्दो १०।४) और आने में आकाश से वायु और वायु से धुएं को आए हैं। तब 'उसी मार्ग को फिर लौटते हैं'। यह कैसे कहा (उत्तर) अभिप्राय यह है, कि पृथिवी से चन्द्र को गए थे, अब चन्द्र से फिर पृथिवी को लौटते हैं। जाते समय आकाश से चन्द्र में पहुंचे थे, और आतेसमय भी वैसे चन्द्र से आकाश में आए हैं। सो मार्ग में यद्यपि भेद है, पर पहला स्थान (मनज़ल) एक है, और जहां पहुंचना वह एक है।

† चन्द्रमण्डल में जो उनका शरीर था, वह अब विलीन होकर आकाश में आकाश की तरह अतिसूक्ष्म रूप में उतरता है,इसी प्रकार नीचे २ उतरता हुआ वायु और धूमआदि में तद्रूप बनता आता है।

‡ इस पर शंकराचार्य लिखते हैं कि जब वह मेघ द्वारा नीचे उतरते हैं और ओषधि वनस्पतियें, धान जौ, तिल माष आदि में से पार होकर जन्म ग्रहण करते हैं, इस प्रकार में उनके लिये बहुत कठिनाइयां हैं। सब से पहली यह है, कि मेघ के बरसने के सहस्रों स्थान हैं, यदि यह पर्वत की चोटी पर बरसे, और वहां से नीचे ढल कर नदी में बहते हुए समुद्र में आ पहुंचे। वह किसी मछली वा समुद्रिय जन्तु ने पी लिये। फिर उसको किसी दूसरे जन्तु ने खा लिया और वह वहां ही जब उस जन्तु के साथ समुद्र में विलीन हुए, तब समुद्र के जलों के साथ आकाश में खींचे गए, फिर मेह की धाराओं के साथ मरु भूमि (रेगिस्तान) में वा पत्थरों पर पड़े रहे। यहां वह

क्योंकि जो कोई (उस) अन्न को खाता है, और वीर्य सेचन करता है, वह पूरा तद्रूप (उसकी शकल) ही होजाता है ॥ ६ ॥

कदाचित् व्याल और हिरण आदि मे पिये गए, उनको किसी दूसरे जन्तु ने खालिया, और उसको फिर किसी दूसरे ने। इस प्रकार वह एक लम्बे चक्र में पड जाते है। अब जब वह ओषधि वनस्पतियों मे आतेहैं, तो उस पहिली कठिनाइयों से निकल आते है, और अब नई कठिनाइयों में पडते है। कदाचित् उन स्थावरों में आए, जो किसी ने नहीं खाए और सूख गए। कदाचित् उन स्थावरों में भी आए, जो खाए गए है, तथापि यदि वह बच्चों से वा बूढो से खाए गए, वा उन से खाए गए जो गृहस्थ नहीं, वा उन से जो नपुंसक हैं, तो इस तरह वह यह अवसर भी अपने नये जन्म का खो देते है। यदि किसी युवक गृहस्थ से खाये गये पर वह बन्ध्यवीर्य है, वा स्त्री बन्ध्या है, तो फिर उनका जन्म लेने का यह अवसर भी चूक जाता है। फिर जब कभी जाकर वह समर्थ पुरुष से खाये जाते हैं, और समर्थ माता की कुक्षि में जाते हैं, तब वह नया जन्म ग्रहण करते है। वैसा जन्म, जैसे पिता के शरीर मे गये है। और यह उनका जाना कर्मानुसार होता है, इसमें कुछ उलट पलट नहीं होता ॥

यह कठिनाइयां उन्हीं के लिये है, जो चन्द्रमण्डल से उतरे हैं, और स्थावर जन्मों में नहीं जाएंगे। जो पापकर्मी स्थावर जन्मों के योग्य है, वह शीघ्र अपने कर्मानुसार स्थावर जन्मों मे चले जाते है। यह तो चन्द्रमण्डल से उतर कर स्थावरों मे होकर आए हैं। स्थावरों में जाना उनके किसी कर्म का फल नहीं, किन्तु ब्राह्मणादि जन्म में आने के लिये यह उनका मार्ग है, और इसलिये वह इन स्थावरों में आकर कोई सुख दुःख नहीं भोगते। स्थावर उनका शरीर नहीं

अब वह जिनका कि वर्ताव यहां रमणीय (सुहावना, शुद्ध) रहा है, वह जल्दी उत्तम जन्म को प्राप्त होंगे, ब्राह्मण के जन्म को, वा क्षत्रिय के जन्म को वा वैश्य के जन्म को। पर वह जो यहां नीच वर्तावबाले रहे हैं, वह जल्दी ही नीच योनि को प्राप्त होंगे, कुत्ते की योनि को वा सूअर की योनि को, वा चण्डाल की योनि को ॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीय ँ स्थानम् । तेनासौ लोको न सम्पूर्यते । तस्माज्जुगुप्सेत । तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिब ँ श्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च । एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचर ँ स्तैरिति ॥ ९ ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद, न सहतैरप्याचरन्

होता, किन्तु वह जैसे पहले आकाश, धुएं, धुन्ध और मेघ में मिल गए थे, ऐसे ही अब स्थावरों में मिल जाते हैं। और इसी लिये उन अनाजों के कूटने पीसने से वह उनमें निकल नहीं जाते, जब कि वह जीव उस समय उनमें निकल जाते हैं, जिसका कि वह स्थावर देह है।

और यह भी जानना चाहिये कि चन्द्रमण्डल में उनको ज्ञान होता है, और जब वह नीचे उतरते हैं, तो वह ज्ञान से शून्य (बेखबर) रहते हैं, जब तक कि उनको फिर मानुष जन्म देकर मोक्ष को पहुंचने के योग्य बना दिया जाता है॥

पाप्मना लिप्यते । शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति । य एवं वेद ॥ १० ॥

और जो इन दोनों मार्गों में से किसी से नहीं चले, वह यह छोटे जन्तु [मक्खी मच्छर आदि] बार२ जन्म लेनेवाले बनते हैं, जो जन्मते हैं और मरते हैं। यह तीसरा स्थान है [जहां मरकर जाते हैं]॥

इसलिये वह]चन्द्र] लोक भर नहीं जाता* [मिलाओ ५।३।२]।

* यहां तक पांचों प्रश्नों के उत्तर दे दिये गए हैं । -पहला किस तरह पांचवीं आहुति में जल पुरुष कहलाते हैं। इसका उत्तर पांच अग्नियों द्वारा पुरुष की उत्पत्ति बतलाते हुए दिया है। दूसरा मरने के पीछे मनुष्य कहां जाते हैं, इसका उत्तर-कुछ देवयान से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, कुछ पितृयाण से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं, कुछ यहीं बार २ जन्मते मरते हैं। तीसरा-कैसे फिर वापिस आते हैं, इसका उत्तर-कुछ ब्रह्म को पहुंच जाते हैं, दूसरे आकाशादि मार्ग से पृथिवी को वापिस आते हैं। चौथा-कहां देवताओं का और पितरों का मार्ग अलग २ होते हैं । 'इसका उत्तर-वह जो देवयान से जाते हैं, जब अयन (आधे बरस) से बरस को जाते हैं, पितृयाण वाले अयन से पितृलोक को जाते हैं । पांचवां-कैसे वह लोक भर नहीं जाता। उत्तर-क्योंकि वह अपना फल भोग कर फिर इस लोक को वापिस आते हैं॥

इस विषय पर बहुत से विचार प्रगट किये गए हैं । पहला, वह कौन लोग हैं, जो देवयान से जाते हैं। उत्तर-पहले वह गृहस्थ जो पञ्चाग्नि विद्या और उसके द्वारा अपने जन्म को जानते हैं, जिसका यहां वर्णन हुआ है। जबकि दूसरे गृहस्थ जोकि साधारणतया यज्ञों को पूरा तो करते हैं, पर उनके असली रहस्य को नहीं जानते, वा वह जो दूसरे नेक काम करते हैं, वह पितृयाण से जाते हैं । दूसरे, वह जो गृहस्थ

इसलिये अपने आपको बचाना चाहिये* [पाप में गिरने से]। इस पर यह श्लोक है— ॥ ८ ॥

'सोने का चुराने वाला, सुरा[शराब] का पीने वाला, गुरुतल्प

से बन को चले गए है, और वहां श्रद्धा और तप में रत है, अर्थात् वानप्रस्थ और परिव्राजक जो अभी शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् नहीं किये हैं। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है, कि क्या ब्रह्मचारी भी देवमार्ग को जाते हैं। इसका उत्तर शङ्कराचार्य यह देते हैं, कि स्मृति और पुराणों में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिये देवयान बतलाया है, और उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी आश्रमान्तरों में प्रवेश की योग्यता लाभ करने के लिये इस आश्रम को धारण किये है, उनका यह आश्रम अगले आश्रमों को संवार देता है, कोई स्वतन्त्र पारलौकिक फल नहीं रखता। पर हम यहां उपनिषद् में भी ब्रह्मचारी के लिये देवयान का कोई निषेध नहीं पाते। और प्रश्न १। १६ में यह वचन सब आश्रमियों के लिये देखते हैं- 'उनके लिये वह धूलि रहित ब्रह्मलोक है, जिनमें कोई कुटिलता नहीं, कोई झूठ नहीं, और कोई छल नहीं'। वस्तुत सब के लिये देवयान है, जो शबल ब्रह्म के उपासक हैं। हां वह जो शुद्ध को साक्षात् किये हैं, उनके लिये देवयान नहीं, वह साक्षात् ब्रह्म को पालेते हैं॥

फिर यह विचार किया गया है, कि जब चन्द्रलोक में एक पुरुष अपने सारे कर्म भोग लेता है, तो वह फिर कैसे जन्म ले सक्ता है। जन्म पिछले कर्मों का विपाक (फल) है। जब पिछले सारे कर्म समाप्त होगए, तो फिर नया जन्म कैसे हो सक्ता है। उत्तर इसका यह है, कि वह यज्ञ कर्म जिनका फल चन्द्र लोक में भोगा गया है, उनके सिवाय और कर्म भी हैं, जो उसका यहां लोगों के साथ बर्ताव रहा है। वह अभी भोगने वाले है, और उनके अनुसार वह यहां नया जन्म लेता है॥

* अक्षरार्थ-उससे घृणा करनी चाहिये॥

[स्त्री] गामी, और ब्राह्मण का मारनेवाला, यह चारों पतित होजाते हैं, और पांचवां जो उनके साथ आहार व्यवहार रखता है ॥९॥

हां, वह जो इन पांच अग्नियों को ठीकर जानता है, वह उन के साथ आचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता । शुद्ध पवित्र होकर पुण्य लोकों को प्राप्त होता है, जो इस रहस्य को जानता है, हां, जो इस रहस्य को जानता है ॥ १० ॥

ग्यारहवां खण्ड

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमा ९ साञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

ते ह सम्पादयाञ्चक्रुः । उद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । त ९ हन्ताभ्यागच्छामेति । त ९ हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

सह सम्पादयाञ्चकार 'प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये । हन्ताऽहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

तान् होवाच 'अश्वपतिर्वै भगवन्तो कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । त ९ हन्ताभ्यगच्छामेति । त ९ हाभ्याजग्मुः ॥४ ॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार । सह प्रातः संजिहान उवाच 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो

न मद्यपः । नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः । यक्ष्यमाणो वै भगवन्तो ऽहमस्मि, यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि,तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि।वसन्तु भगवन्त इति' ॥ ५॥

ते होचुः'येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्, त ँ हैववदेदात्मा न मेवेमं वैश्वानर ँ सम्प्रत्यध्येषि, तमेव नो ब्रूहीति'॥६॥

तान् होवाच 'प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति'। तेह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रिमिरे।तान् हानुपनीयैतदुवाच।७।

*प्राचीनशालण औपमन्यव (उपमन्यु की सन्तान) सत्ययज्ञ-पौलुषि [पुलुष की सन्तान], इन्द्रद्युम्न-भाल्लवेय [भल्लविकापोता], जन-शार्कराक्ष्य [शार्कराक्ष्य की सन्तान], बुडिल आश्वतराश्वि [अश्वतराश्वकी सन्तान], यह पांचों बडे गृहस्थ और बडे श्रोत्रिय [वेदवेत्ता] एक वार इकट्ठे हुए, और यह विचार चलाया, कि हमारा आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है † ॥ १ ॥

उन्होंने निश्चय किया 'भगवन्तः ! यह जो उद्दालक आरुणि [अरुणकी सन्तान] है, यह इस वैश्वानर आत्मा को ठीक २ जानता है आओ उस के पास चलें' तब वह उस के पास गए ॥ २ ॥

उसने सोचा 'यह बड़े गृहस्थ और बडे श्रोत्रिय जो कुछ मुझ से पूछेंगे, मैं उन की सारी बातों को नहीं कह सकूंगा; अच्छा, मैं कोई और (शिक्षक) इन्हें बतलाऊं'॥ ३ ॥

---

* यह कथा शतपथ ब्राह्मण १०।६।१।१ में भी है ॥

† ब्रह्म जो सबका अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) है ॥

तब उसने उन्हें कहा 'हे भगवन्तः ! अश्वपति कैकेय [केकय देशका राजा] इस वैश्वानर आत्मा को ठीक २ जानता है । आओ उसके पास चलें'। तब वह उसके पास गए ॥ ४ ॥

जब वह पहुंचे तो राजा ने उन में से हर एक को अलग२ भेंट देने की आज्ञा दी और दूसरे दिन प्रातःकाल उठते ही उसने कहा 'मेरे देश में कोई चोर नहीं, कंजूस नहीं, शराब पीनेवाला नहीं, अग्न्याधान [प्रतिदिन होम के लिये घर में अग्नि की स्थापना] से शून्य नहीं, विद्या से हीन नहीं, व्यभिचारी नहीं, व्यभिचारिणी कहां * । हे भगवन्तः ! मैं यज्ञ करनेवाला हूं, जितना धन एक२ ऋत्विज को दूंगा, उतना आप में से हर एक को दूंगा। आप यहां वास करें ॥ ५ ॥

उन्होंने उत्तर दिया 'जिस प्रयोजन के लिये पुरुष घूमरहा हो, [आया हो], उसे वही बात कहनी चाहिये । आप इस वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, वह हमें बतलाएं' ॥ ६ ॥

उसने कहा 'मैं कल प्रातःकाल तुम्हें उत्तर दूंगा'। वह दूसरे दिन प्रातःकाल [विद्यार्थियों की तरह] हाथ में समिधा लिये हुए उसके पास पहुंचे । उसने उपनयन किये विना ही † उनको यह कहा ॥ ७ ॥

---

* राजा को इस बातके कहने की आवश्यकता कदाचित् यह है कि ब्राह्मण उस राजा से कुछ नहीं ग्रहण करते थे, जो अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहा, जो उसके अपनी प्रजा की ओर हैं ॥

† शिष्य जब विद्या पढ़ने के लिये गुरु के पास जाता है, तो पहले उसका उपनयन होकर फिर विद्या सिखाई जाती है । शिष्य जब पहले किसी आचार्य से शिक्षा पाचुका है, तौ भी जबवह किसी दूसरे आचार्य्य के पास कुछ सीखने को जाता है, तो वहां फिरउपनयनपूरा

बारहवां खण्ड

'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति'? । 'दिव मेव भगवो राजन्निति' होवाच । 'एषवै सुतेजा आत्मा वैश्वनरो यं त्वमात्मान मुपास्से,तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेव मात्मानं वैश्वानर मुपास्ते । मूर्धा त्वेष आत्मन इति' होवाच । 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद् यन्मा नागमिष्य इति' ॥ २ ॥

'औपमन्यव । तुम किस को आत्मा के तौर पर उपासते हो' * उसने उत्तर दिया 'केवल द्यौ को, हे भगवन् राजन् !' उसने कहा 'यह आत्मा सुतेजा [बड़े तेजवाला,] वैश्वानर† है, जिस

किया जाता है। यहां भी यह ब्राह्मण इसी नियत से समिधा हाथ में ले कर राजा के पास आए थे। पर राजा उनके इस विनय से ही सन्तुष्ट है, कि यह ब्राह्मण होकर शिष्य के तौर पर मेरे पास आए हैं, जोकि ब्राह्मण नहीं हूं ॥

* जहां तक वह ज्ञान में पहले पहुंच चुके हैं, उस से आगे ले जाने के लिये उन के पहले ज्ञान को पूछ लिया है ॥

† द्यौ में जो आत्मा है, वह वही वैश्वानर है, जो इस सारे विश्व का नेता है, तथापि द्यौ उसकी एक छोटी सी महिमा का प्रकाशक है। जैसे आंख जीवात्मा की एकही महिमा [देखने की] का का प्रकाशक है, द्यौ में उसकी महिमा का दर्शन सारे विश्व में फैली हुई महिमा में से बहुत थोड़ी सी महिमा का दर्शन है ॥

आत्मा को तुम उपासते हो । इस लिये [सुतेजा वैश्वानर आत्मा की उपासना से] तुम्हारे कुल में सुत प्रसुत और आसुत * दीखता है ॥ १ ॥

तुम अन्न खाते हो [स्वस्थ और बलिष्ठ हो] प्रिय [पुत्र पौत्र आदि] देखते हो । जो कोई इस [द्यौ] वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है वह अन्नखाता है, प्रिय देखता है, और इस के कुल में ब्रह्मवर्चस [स्वाध्याय और धर्म का तेज] होता है, । पर यह आत्मा का केवल सिर है [न कि सम्पूर्ण वैश्वानर] और इस लिये तेरा सिर गिर जाता, यदि तू मेरे पास न आता ॥२॥

तेरहवां खण्ड

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम् 'प्राचीनयोग्य! कं त्वमात्मानमुपास्स इति' 'आदित्यमेव भगवो राजन्निति' होवाच । 'एष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात् तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्को ऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले,य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति' होवाच 'अन्धोऽभविष्यद्, यन्मां नागमिष्य इति' ।२।

तब उसने सत्ययज्ञ-पौलुषि को कहा 'हे प्राचीनयोग्य तुम किसको आत्मा के तौर पर उपासते हो' उसने उत्तर दिया 'हे भगवन्

* सोम को एकाह आदि अहर्गण में सुत, अहीन में प्रसुत, और सत्र में आसुत कहते हैं ॥

राजन् ! केवल सूर्य को ' । उसने कहा 'यह आत्मा विश्वरूप (सारे रूपों वाला) वैश्वानर है, जिस आत्मा को तुम उपासते हो, इसलिये तेरे कुल में बहुत और सब प्रकार का धन दीखता है ॥१॥

खचरों वाला रथ है, दासियें हैं, मुहरें है । तुम अन्न खाते हो, और प्रिय देखते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, पर यह आत्मा का केवल नेत्र है, और तुम अन्धे होजाते, यदि तुम मेरे पास न आते ॥ २ ॥

चौदहवा खण्ड

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं 'वैयाघ्रपद्य कंत्वमात्मान मुपास्स इति' ' वायुमेव भगवो राजन्निति ' होवाच 'एष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यंत्वमात्मान मुपास्से, तस्मात् त्वां पृथग् वलयः आयन्ति, पृथग् रथश्रेणयो ऽनुयन्ति ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्स्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । 'प्राणस्त्वेष आत्मन इति ' होवाच 'प्राणस्त उदक्रमिष्यद् यन्मां नागमिष्य इति' ॥ २ ॥

तब उसने इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय को कहा 'वैयाघ्रपद्य! तुम किस को आत्मा के तौर पर उपासते हो' उसने उत्तर दिया 'हे भगवन् राजन्! केवल वायु को ' उसने कहा ' यह आत्मा पृथग्वर्त्मात्मा (अलग२ मार्गों में बहने के स्वभाव वाला) वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौर पर उपासते हो, इसलिये (सब दिशाओं से) तुझे अलग २ उपहार

(भेंट) आते हैं, और अलग २ रथों की पंक्तियें तेरे पीछे चलती हैं। तुम अन्न खाते हो और प्रिय देखते हो । जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है, और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है। पर यह आत्मा का प्राण है, तेरा प्राण निकलजाता, यदि तू मेरे पास न आता ॥ २ ॥

पन्द्रहवां खण्ड

अथ होवाच जन ं 'शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति' 'आकाशमेव भगवो राजन्निति' होवाच 'एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात् त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानर मुपास्ते सन्देहस्त्वेष आत्मन इति' होवाच । 'सन्देहस्ते व्यशीर्यद्, यन्मांनागमिष्य इति ॥ २ ॥

तब उसने जन को कहा 'हे शार्कराक्ष्य, तुम किसको आत्मा के तौर पर उपासते हो'? उसने उत्तर दिया 'हे भगवन् राजन्! केवल आकाश को' उसने कहा 'यह आत्मा बहुल [बड़ा परिपूर्ण] वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौर पर उपासते हो, इसलिये तुम प्रजा से और धन से भरे हुए हो ॥ १ ॥

अन्न खाते हो और प्रिय देखते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है, वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है, और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है। पर यह आत्मा का धड़ है, और तेरा धड़ टूट जाता, यदि तू मेरे पास न आता ॥ २ ॥

सोलहवां खण्ड

अथ होवाच बुडिल माश्वतराश्विम् 'वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मान मुपास्स इति' 'अप एव भगवो राजन्निति' होवाच। ' एष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान मुपास्से, तस्मात् त्व ँ रयिमान् पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानर मुपास्ते, बस्तिस्त्वेष आत्मन इति' होवाच। 'बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्, यन्मां नागमिष्य इति' ॥ २ ॥

तब उसने बुडिल आश्वतराश्वि को कहा ' वैयाघ्रपद्य! तुम किसको आत्मा के तौर पर उपासते हो' उसने उत्तर दिया 'हे भगवन् राजन्! केवल जलों को'। उसने कहा 'यह आत्मा रयि (धन) वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौर पर उपासते हो, इसलिये तुम धन वाले हो और पुष्टि वाले (फलते फूलते) हो ॥ १ ॥

अन्न खाते हो और प्रिय देखते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है, वह अन्न खाता है प्रिय देखता है, और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है। पर यह आत्मा का बस्ति (मूत्राशय) है, तेरा मूत्राशय फट जाता, यदि तू मेरे पास न आता

सत्तरहवां खण्ड

अथ होवाचोद्दालक मारुणिम् ' गौतम! कं त्वमात्मान मुपास्स इति'। 'पृथिवीमेव भगवोराजन्निति' होवाच 'एषवै प्रतिष्ठाऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान मुपास्से, तस्मात् त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

· अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानर मुपास्ते, पादौ त्वेतावात्मन इति ' होवाच ' पादौ ते व्यम्लास्येतां, यन्मां नागमिष्य इति' ॥ २ ॥

तब उसने औद्दालक आरुणि को कहा 'हे गौतम ! तुम किस को आत्मा के तौर पर उपासते हो' उसने उत्तर दिया ' हे भगवन् राजन् ! केवल पृथिवी को' उसने कहा 'यह आत्मा प्रतिष्ठा (दृढ़ स्थिति धर्मवाला) वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौरपर उपासते हो, इसलिये तुम प्रजा से और पशुओं से प्रतिष्ठावाले (दृढ़ खड़े) हो॥१॥

। अन्न खाते हो और प्रिय देखते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है, वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है । पर यह आत्मा के पाद हैं। और तुम्हारे पाद कुमला (सूख) जाते, यदि तुम मेरे पास न आते॥२॥

अठारहवां खण्ड

तान् होवाच ' एते वै खलु यूयं पृथिगिवेम मात्मानं वैश्वानरं विद्वा ५ सोऽन्नमत्थ । यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमान मात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनो ऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥२॥

तब उसने उन सब को कहा 'तुम इस वैश्वानर * आत्मा को मानो अलग २ जानते हुए अन्न खाते हो। पर जो इस वैश्वानर

---

*वैश्वानर भौतिक अर्थ में जाठराग्नि का नाम है। अर्थात् वह अग्नि जो हर एक प्राणधारी के अंदर है, जिसके द्वारा उसका अन्न पच कर उसका जीवन बनता है। यही अग्नि जीवन का चिन्ह है मरते समय मनुष्य के जिस २ अंग से यह अग्नि शान्त होता जाता है, वही मुर्दा होता जाता है। अन्ततः छाती पर हाथ धर कर देखते हैं, यह सबसे पीछे ठण्डी होती है, इसके ठण्डा होने के साथ ही जीवन की समाप्ति है। यह अग्नि जो प्राणधारियों में जीवन का हेतु है, यही पृथिव्यादि लोकों के भी जीवन का हेतु है। अर्थात् यह हर एक स्थावर जंगम में रहकर उसको जीवित रखने वाली है। यह विश्वव्यापी वैश्वानर अग्नि जिस अन्तरात्मा के अधीन, और जिसकी शक्ति से अपना काम करती है, उस अन्तरात्मा को शबलरूप में वैश्वानर आत्मा कहा है—

वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते। वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ (ऋ० १।५९।१)

हे वैश्वानर अग्ने! दूसरी अग्नियें तेरी शाखाएं हैं, सारे देवता तुझमें आनन्द मनाते हैं। तू सब मनुष्यों का नाभि (केन्द्र) है, दृढ़ खम्भे की तरह तू लोगों को सहारे हुए है॥

इसी सम्बन्ध को लेकर आगे वैश्वानर के उपासक के लिये अपने अन्दर ही वेदि आदि की कल्पना (५।१८।२) और उसके भोजन में होम की कल्पना और उससे सारे विश्व की तृप्ति दिखलाई है (५।१९—२४) और चण्डाल को उच्छिष्ट देने में भी अग्निहोत्र की तुल्यता दिखलाई है। और देखो ऋग् १।५९; १।९८ बृह० आर० उप० ५।९ शतपथ १०।६।१ वेदान्त १।२।२४—३२॥

आत्मा को इस प्रकार उपासता है, कि वह †प्रादेशमात्र है और अभिविमान है, वह सब लोकों में सब प्राणधारियों में और सब आत्माओं में अन्न खाता है ॥ १ ॥

इस वैश्वानर आत्मा का सुतेजा (अच्छे तेज वाला द्यौ) केवल सिर है, विश्वरूप (सारे रूपों वाला सूर्य) नेत्र है, पृथग्वर्त्मात्मा (भिन्न २ मार्गों वाला वायु) प्राण है, बहुल (व्यापक आकाश) धड़ है, रयि (जल) वस्ति है, पृथिवी पाओं है। छाती वेदि है (वेदि की नाईं है) (छाती के लोम) कुशा है (वेदि में बिछी हुई कुशा की न्याईं है) हृदय गार्हपत्य अग्नि है, मन दक्षिणाग्नि है, मुख आहवनीय है ॥ २ ॥

उन्नीसवां खण्ड

तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्, तद्धोमीयम् । स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्, तां जुहुयात् 'प्राणाय स्वाहेति' प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

---

† प्रादेशमात्र, और अभिविमान, यह दोनों शब्द यहां स्पष्टार्थ नहीं हैं। अक्षरार्थ—बालिश्त भर, और सामने होकर मापने वाला। शतपथ ब्राह्मण में मूर्धा से लेकर ठोडी तक अंगों में द्यौ आदि का स्वरूप दिखलाया है, देखो शतपथ १०।६।१ और वेदान्त १।२।३१॥

इन दोनों शब्दों का अर्थ श्रीशंकराचार्य यह लिखते हैं—'द्यौ मूर्धा है' से लेकर 'पृथिवी पाओं है' यहां तक जो प्रादेश हैं उनसे यह अध्यात्म में मापा जाता है, इसलिये प्रादेशमात्र है, अथवा मुख आदि अवयवों में यह साक्षीरूप से मापा जाता है। अथवा द्युलोक से पृथिवी पर्यन्त (प्रदेश) के परिमाण वाला है। अथवा शास्त्र में जो बतलाए गए हैं, (प्रादेशवाले) द्यौ आदि, उनके परिमाण वाला है। और प्रत्यगात्मा के तौर पर जाना जाता है, इसलिये यह अभिविमान है॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति।२।

*सो अब जो अन्न पेहल पहल (वैश्वानर के उपासक के) पास आए, वह होम की वस्तु है। अब वह जो पहली आहुति होमे (पहलाग्रास मुख में डाले, मुख जो आहवनीय अग्नि है) तो वह 'प्राणाय स्वाहा' यह कहकर उसे होमे। तब प्राण तृप्त होजाता है ॥ १ ॥

प्राण क तृप्त होने पर नेत्र तृप्त होजाता है, नेत्र के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होने पर द्यौ तृप्त होता है, द्यौ के तृप्त होने पर द्यौ और सूर्य के अधिकार में जो कुछ है, वह सब तृप्त होजाता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह (खाने वाला वैश्वानर का उपासक, यजमान) स्वयं प्रजा से, पशुओं से, स्वास्थ्य से, तेज से और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥ २ ॥

बीसवां खण्ड

अथ या द्वितीयां जुहुयात्, तां जुहुयाद् 'व्यानाय स्वाहेति'। व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु

---

* पूर्व वैश्वानर के उपासक के अंगों में अग्निहोत्र के अंगों की कल्पना दिखलाई है। अब उसका फल यह दिखलाते हैं, कि वैश्वानर का उपासक जो अन्न खाता है, यही सच्चा अग्निहोत्र है इससे समष्टि विराट् की तृप्ति होकर उपासक के लिये धर्म और अर्थ दोनों की सिद्धि होती है ॥

-यत्किञ्च दिशश्चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति, तस्यानु-
-तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्च-
सेनेति ॥ २ ॥

अब जो दूसरी [आहुति] होमे, तो वह उसे 'व्यानाय स्वाहा' कहकर होमे। तब व्यान तृप्त होता है, व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्र तृप्त होता है श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएं तृप्त होती हैं दिशाओं के तृप्त होने पर जो कुछ दिशाओं और चन्द्रमा के अधिकार में है वह सब तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह [उपासक] स्वयं प्रजा से पशुओं से स्वास्थ्य से तेज से ओर ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥ २ ॥

इक्कीसवां खण्ड

अथ यां तृतीयां जुहुयात्, तां जुहुयादपानाय स्वाहे त्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्नि स्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधिष्ठतस्तत् तृप्यति, तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभि रन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्च सेनेति ॥ २ ॥

अब जो तीसरी [आहुति] होमे, तो उसे 'अपानाय स्वहा' कहकर होमे। तब अपान तृप्त होता है ॥ १ ॥
अपान के तृप्त होने पर वाणी तृप्त होती है, वाणी के तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होती है, अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है, पृथिवी

के तृप्त होने पर जो कुछ पृथिवी और अग्नि के अधिकार में है, वह सब तृप्त होता है, उसकी तृप्ति के पीछे वह स्वयं प्रजा से पशुओं से स्वास्थ्य से तेज से और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥ २ ॥

बाईसवां खण्ड

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात् तां जुहुयाद् समानाय स्वहेति समान स्तृप्यति ॥ १ ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्य स्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत् तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठत स्तत् तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभि रन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

अब जो चौथी [आहुति] होमे, तो उसे 'समानय स्वाहा' कह कर होमे। तब समान तृप्त होता है ॥ १ ॥

समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है, मन के तृप्त होने पर मेघ तृप्त होता है, मेघ के तृप्त होने पर विद्युत् [विजली] तृप्त होती है, विद्युत् के तृप्त होनेपर जो कुछ विद्युत् और मेघ के अधिकार में है, वह सब तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह स्वयं प्रजासे पशुओं से स्वास्थ्य से तेज से और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥ २ ॥

तेईसवां खण्ड

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात, तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

उदाने तृप्यति वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृ

प्यत्याकाशेतृप्यति यत्किञ्चवायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठ तस्तत् तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

अब जो पांचवीं (आहुति) होमे, तो उसे 'उदानायस्वाहा' कहकर होमे। तब उदान तृप्त होता है ॥ १ ॥

उदान के तृप्त होने पर वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने पर आकाश तृप्त होता है। आकाश के तृप्त होने पर जो कुछ वायु और आकाश के अधिकार में है, वह सब तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह स्वयं प्रजासे पशुओं से स्वास्थ्य से तेजसे और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥ २ ॥

चौबीसवांखण्ड

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् तत्स्यात् ॥ १ ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

तद्यथेषीकातूल मग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव ँ हास्यसर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, य एतदेवंविद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

तस्मादु हैवंविद् यद्यपि चाण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुत ँ स्यादिति । तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एव ँ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्र मुपासते, इत्यग्निहोत्रमुपासत इति।५।

अगर कोई इस [विद्या] को जाने बिना अग्निहोत्र करता है तो वह होम ऐसा है जैसे कोई अंगारों को हटाकर राख में होम करे॥१॥

हां वह जो इसके सच्चे तात्पर्य का जानकर अग्निहोत्र करता है, तो इसका वह होम [अर्थात् अन्न खाना]* सारे लोकों में सारे प्राणधारियों में और सारे आत्माओं में होजाता है॥ २ ॥

और जैसे सरकण्डेकी ऊपर की रुई आग्नि में डाली हुई जलजाती है, इस तरह उसके सारे पापजल जाते हैं, जो अग्निहोत्र के इस सच्चे तात्पर्य को जानताहुआ होम करता है [वा अन्न खाता है] ॥३॥

इसलिये यदि [अग्निहोत्र के इस] सच्च तात्पर्य को जानने वाला अपना बचा हुआ अन्न [उच्छिष्ट] चाण्डाल को भी देदेवे, तो वह उसके [चण्डाल के देह में स्थित] वैश्वानर आत्मा में ही होम होगा। इस पर यह श्लोक है॥ ४ ॥

जैसे भूखे बच्चे [भोजन की आशा से] माता के आस पास बैठ जाते हैं, इस प्रकार सारे प्राणधारी[लोग]अग्निहोत्र को उपासते† हैं, हां, अग्निहोत्र को उपासते हैं॥ ५ ॥

छठा प्रपाठक (पहलाखण्ड)।

ओ३म्। श्वेतकेतुर्हारुणेय आस, त ँ ह पितोवाच

---

* मिलाओ ५। १८। १

† इस विद्या के जानने वाले के भोजन की ध्यान करते हैं, कि कब यह खाएगा। क्योंकि विद्वान् के भोजन से सारा जगत् तृप्त होता है (शंकराचार्य)

' श्वेतकेतो! वस ब्रह्मचर्यं, न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननू
च्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ' ॥ १ ॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्वि ँ शतिवर्षः सर्वान्
वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्धएयाय ॥२॥

त ँ ह पितोवाच ' श्वेतकेतो ! यन्नु सौम्येदं महाम
ना अनूचानमानी स्तब्धो ऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो,येना
श्रुतं ँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ॥३॥

' कथंनु भगवः ! स आदेशो भवतीति ' ! यथासो-
म्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचार-
म्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥यथा
सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात ँ स्याद,
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ ५॥
यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं वि-
ज्ञात ँ स्याद्वाचारम्भणं विकारोनाम धेयं कृष्णायस
मित्येव सत्यम् । एव ँसोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

न वैनूनं भगवन्तस्तएतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन्
कथं मे नावक्ष्यन्निति, भगवाँस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति '
तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

श्वेतकेतु-आरुणेय [अरुण का पोता] था, उसको उसके पिता [अरुण के पुत्र-उद्दालक] ने कहा 'श्वेतकेतो ! जाओ, ब्रह्मचर्य वास करो; क्योंकि बेटा ! हमारे कुल में ऐसा पुरुष नहीं होता, कि जो वेद को न पढ़कर ब्रह्मबन्धु * सा बनजाए' ॥ १ ॥

वह बारह बरस की † आयु में [आचार्य्य के] पास गया और चौबीस बरस की आयु में सारे वेदों को पढ़कर वापिस आया, बड़े मन वाला, अपने आपको पूरा विद्वान् समझता हुआ, और बड़ी अकड़ वाला [बन कर वापिस आया] ॥ २ ॥

उसे पिता ने कहा 'श्वेतकेतो ! बेटा ! तुम जो इतने बड़े मन वाले, अपने आपको पूरा विद्वान् समझते हो और अकड़ वाले हो, क्या तुमने वह आदेश‡[उपदेश] भी कभी पूछा है, कि जिससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, न समझा हुआ समझा हुआ हो जाता है, और न जाना हुआ जाना हुआ होजाता है यही ॥३॥

[उसने पूछा] 'वह आदेश हे भगवन् ! किस प्रकार का है' ॥

[पिता ने उत्तर दिया] 'जैसे हे सोम्य ! एक मट्टी के गोले [के जानने] से मट्टी की हर एक वस्तु विज्ञात [जानी गई] हो जाय, क्योंकि विकार केवल नाम मात्र अलग है, जो वाणी का

---

* ब्रह्मबन्धु, वह जो ब्राह्मणों को अपने बन्धु बतलाता है, पर स्वयं ब्राह्मण के गुण कर्म से भूषित नहीं ॥

† जब कि ब्राह्मण का पुत्र सातवें बरस उपनीत होसक्ता है, तो एक योग्य विद्वान् का पुत्र इतनी देर अनुपनीत रहा हो, इसकी अपेक्षा यह अधिक सम्भव है, कि वह इससे पहले अपने विद्वान् पिता से पढ़ता रहा हो ॥

‡ आदेश, वह उपदेश जो केवल शास्त्रगम्य वा गुरुगम्य ही हो ॥

सहारा है [अलग शब्द से बोला जाता है] पर वह मट्टी है यही सत्य है* ॥ ४ ॥

और जैसे हे सोम्य ! एक सोने के ढेले से सोने की हर एक वस्तु जानी जाती है, विकार केवल नाम मात्र अलग है, जो बाणी का सहारा है, पर वह सोना है, यही सत्य है ॥ ५ ॥

और जैसे हे सोम्य एक नख काटने वाले से लोहे की हर एक वस्तु जानी जाती है, विकार केवल नाम मात्र है, जो बाणी का सहारा है, पर वह लोहा ही है यही सत्य है। इस प्रकार हे सोम्य! यह आदेश होता है' ॥ ६ ॥

[पुत्र ने कहा] 'निःसंदेह वह भगवान् [मेरे आचार्य] इसे नहीं जानते होंगे। क्योंकि यदि वह जानते होते, तो मुझे कैसे न बतलाते। इसलिये आप ही मुझे यह बतलाएं'। उसने कहा 'ऐसा ही हो हे सोम्य!' ॥ ७ ॥

दूसरा खण्ड †

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं; तस्माद सतः सज्जायेत ॥ १ ॥

कुतस्तु खलुसोम्यैव स्यादिति होवाच । 'कथम सतःसज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम् ॥ २ ॥

* विकार, बनी हुई वस्तु। जब कोई वस्तु नई बनती है तो उस में नाम रूप का भेद होता है, मट्टी के बर्तन नाम में और रूप [आकार =शकल] में भिन्न २ होजाते हैं, पर वह मट्टी से कोई अलग वस्तु नहीं। मिलाओ ६।१।३॥

† मिलाओ तैत्ति० उप० २।६॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तदपोऽसृजत । तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥ ता आप ऐक्षन्त, बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त, तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥४॥

हे सोम्य पहले यह केवल सत् था एक ही बिना दूसरे के, इस विषय में कई ऐसा कहते हैं, कि पहले यह केवल असत् (अभाव) था एक ही बिना दूसरे के: ऐसा मानने में असत् से सत् की उत्पत्ति माननी होगी ॥ १ ॥

पर उसने कहा हे सोम्य यह कैसे होसक्ता है ? असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होसक्ती है ? किन्तु सत् ही हे सोम्य ! यह पहले था, एक ही बिना दूसरे के ॥ २ ॥

उसने देखा * (अर्थात् ख्याल किया) मैं बहुत होजाऊं, मैं प्रजावाला होऊं । उसने तेज † को रचा । उस

---

* यह क्रिया प्रगट करती है, कि यह सत् चेतन है, न कि अचेतन। यहां प्रकृति का अन्तर्यामी मान कर उसे शायलरूप में प्रगट किया है । ऐसे ही आगे 'तेजः' और 'आपः' है ॥

† यहां व्याख्याकारों ने तेज से अग्नि और अन्न (४) से पृथिवी ली है। और यह बतलाया है, कि तेज की उत्पत्ति आकाश और वायु से पीछे जाननी चाहिये, जैसा कि तैत्तिरी० (२ । १) में है। पर यहां जैसा कि तेज, जल, और अन्न का आगे वर्णन है, उससे, तेज से यह

तेज*ने देखा, मैं बहुत होउं, प्रजावाला होउं, उसने जल को रचा। इसलिये जहां कहीं कोई पुरुष गर्म होता है, और उसे पसीना आता है, वहां तेज से ही जल उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

उस जल†ने देखा, मैं बहुत होउं, मैं प्रजा वाला होउं। उसने अन्न‡ [पृथिवी] को रचा। इसलिये जहां कहीं बरसता है, वहीं बहुत अन्न होता है ॥ ४ ॥

तीसरा खण्ड

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

सेयं देवतैक्षत, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति । सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

गर्मी जो उत्पत्ति का बीज है, जल से द्रवावस्था और अन्न से घनावस्था अभिप्रेत है। यह अग्नि इन तीनों से त्रिवृत्कृत है (६।४।१) न कि तेजोरूप है. तेजका उसमें लाल रंग प्रगट कियागया है।

* वही सत, जो अब तेज के अन्दर शबलरूप में है। तेज से वह सब अभिप्रेत है, जो जलता है, पकाता है, चमकता है और जो लाल है॥

† जल से अभिप्राय है, जो द्रव है और शुक्लवर्ण है॥

‡ अन्न से वह वस्तु अभिप्रेत है, जो घन (ठोस) भारी है, स्थिर आकार वाली है, और काले रंगकी है ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद् । यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४ ॥

* इन सारे प्राणधारियों के तीन ही बीज † हैं–अण्डे से उत्पन्न होनेवाले [अण्डज पक्षी आदि], जीव [अर्थात् जीवित जन्तु] से उत्पन्न होनेवाले [जरायुज=मनुष्य, पशु आदि], और उद्भिद से उत्पन्न होनेवाले [उद्भिज्ज=वृक्ष आदि] ॥ १ ॥

इस देवता ने [जिसने तेज, जल, और अन्न को उत्पन्न किया था] सोचा ‡, अच्छा अब मैं इन तीनों देवताओं [तेज, जल और अन्न] में इस जीते आत्मा [जीवात्मा] के साथ प्रवेश करके नाम और रूप को अलग २ करूं ॥ २ ॥

और इनमें से हरएक को तीन २ गुना बनाऊं । तब उस देवता [सत्] ने इन तीनों देवताओं में इस जीते आत्मा [जीवात्मा] के साथ प्रवेश किया और नाम और रूप को अलग २ किया ॥ ३ ॥

---

* अब तेज आदि की उत्पत्ति दिखला कर उसके पीछे जीवित सृष्टि का उत्पन्न होना और उसके द्वारा अलग २ नामरूप का व्यवहार होना दिखलाते हैं ॥

† ऐत० उप० में चार बीज दिखलाए हैं, अण्डज, जो यहां अण्डज है, जारुज (अर्थात् जरायुज) जो यहां जीवज है, उद्भिज्ज, जो यहां उद्भिज्ज है, स्वेदज, जो पसीने (गर्मी) से उत्पन्न होते हैं, यह वहां अधिक है । (यहां यह इन्हीं के अन्तर्गत किया गया है) मिलाओ अथर्व १।१२।१॥

‡ यद्यपि तेज, जल, और अन्न को उत्पन्न करदिया है, पर अभी भी बहुत होने का प्रयोजन पूरा नहीं हुआ, इस लिये उसने फिर सोचा (शंकराचार्य)

इनमें से हरएक को तीन २ गुना *बनाया; और जिसतरह पर हे सोम्य ! इन देवताओं में से हरएक तीन २ गुना है, अब यह मुझ से जान ॥ ४ ॥

चौथा खण्ड

यदग्नेरोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं, तदन्नस्य । अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं । त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥
यदादित्यस्य रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य।अपागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥
यच्चन्द्रमसो रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य । अपागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

यद्विद्युतो रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥
एतद्ध स्मवैतद्विद्वा ँ स आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रियाः, न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्य-

* तेज, जल और पृथिवी, इनमें से एक २ का अधिक भाग लेकर दूसरे उसके साथ मिलादिये। और यह दृश्यमान अग्नि, जल, तेज इसतरह पर मिश्रितरूप हैं ॥

तीतिह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥ यद्रुरोहितमिवाभूदिति-
तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः, यद्रुशुक्लमिवाभूदित्यपा
ँ रूपमिति तद्रविदाञ्चक्रुः । यद्रु कृष्णमिवाभूदित्य-
न्नस्य तद्रपामिति विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥ यद्रविज्ञातमिवा-
भूदित्येतासामेव देवताना ँ समास इति तद्विदाञ्चक्रुः ।
यथानु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता पुरुषं प्राप्य त्रिवृत
त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

(जलती हुई) अग्नि का जो लालरंग है, वह तेज का रंग है, जो श्वेत रंग है, वह जलों का है । और जो काला रंग है, वह पृथवी का है । अब अग्नि का अग्निपन चलागया,* विकार नाममात्र (अलग) है जो वाणी का सहारा है । जो कुछ सत्य है, वह तीन रूपही है ॥ १ ॥

जो सूर्य का लाल रंग है, वह तेज का रंग है, जो श्वेत है, वह जलों का है, और जो काला है, वह पृथिवी का है, अब सूर्य का सूर्यपन चलागया, विकार नाममात्र (अलग) है, जो वाणी का सहारा है । जो कुछ सत्य है, वह तीन रूपही है ॥ २ ॥

जो चन्द्रका लाल रंग है, वह अग्नि का है, जो श्वेत है, वह जलों का है, जो काला है, वह पृथिवी का है । अब चन्द्र का चन्द्रपन चला गया, विकार नाममात्र [अलग] जो वाणी का सहारा है, जो कुछ सत्य है, वह तीन रूपही है ॥ ३ ॥

---

*अग्नि का अग्निपन कोई अपना स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि अग्नि तीन रूपों का विकार विशेष है, इसके सिवाय और कुछ नहीं ॥

जो बिजली का लाल रंग है, वह तेज का रंग है, जो श्वेत है, वह जलों का है, जो काला है, वह पृथिवी का है, अब बिजली का बिजलीपन चला गया, विकार नाममात्र (अलग) है, जो वाणी का सहारा है । जो कुछ सत्य है, वह तीन रूपही हैं ॥ ४ ॥

पुराने समय के बड़े गृहस्थ और बड़े वेदवेत्ता जिन्हों नेइस बात को जान लिया था, उन्हों ने कहा, 'अब हमें कोई ऐसी वस्तु नहीं बतलाएगा, जो हमारी न सुनी हुई, न समझी हुई और न जानी हुई हो, क्योंकि इन [तीन रूपों के जानने] से उन्होंने सब कुछ जान लिया था ॥ ५ ॥

जो कुछ लाल सा था, वह उन्हों ने तेज का रूप जाना, जो श्वेत सा था, वह उन्हों ने जलों का रूप जाना, जो काला सा था, वह उन्हों ने पृथिवी का रूप जाना ॥ ६ ॥

और जो कुछ बेमालूम सा था, वह उन्हों ने जाना, कि इन तीनों देवताओं का मेल है ।

अब हे सोम्य ! मुझसे यह सीख, यह तीनों देवता जब पुरुष को प्राप्त होते हैं, किस तरह इनमें से हरएक तीन २ गुना होजाता है ॥ ७ ॥

पांचवां खण्ड

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यम स्तन्मा ऽसं योऽणिष्ठस्तन्मः ।१। आपः पीता स्त्रेधा विधीयन्ते; तासां यः स्थविष्ठो धातु स्तन्मूत्रं भवति, योमध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः ॥२॥ तेजो ऽशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातु

स्तदस्थि भवति, यो मध्यमः, समज्जा, योऽणिष्ठः सावाक् ॥३॥अन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो मयी वागिति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति हो उवाच ॥ ४ ॥

जब पृथ्वी [अन्न] खाया जाता है, तो वह तीन प्रकार का बनजाता है उसका सबसे स्थूल भाग मल बन जाता है, जो मध्यम है वह मांस, ओर जो सब से सूक्ष्म है, वह मन बन जाता है ॥ १ ॥

जब जल पिया जाता है, वह तीन प्रकार का बन जाता है, उसका जो सब से स्थूल भाग है वह मूत्र बन जाता है, जो मध्यम है वह रुधिर, और जो सब से सूक्ष्म है, वह प्राण बन जाता है ॥ २ ॥

जब तेज [अर्थात् जो तेल घी आदि में है,वा जो अन्न में धातें है] खाया जाता है, तो वह तीन प्रकार का बन जाता है, उसका जो स्थूल भाग है, वह हड्डी बन जाता है, जो मध्यम है, वह मज्जा [मिज्ज] जो सब से सूक्ष्म है, वह वाणी बन जाता है * ॥ ३ ॥

क्योंकि हे सोम्य ! मन अन्न मय [अन्न का बना हुआ] है, प्राण जलमय है, वाणी तेजो मयी है ॥

पुत्रने कहा। भगवन् ! अभी मुझे फिर [अधिक स्पष्ट करके] बतलाएं। पिता ने कहा। तथा स्तु हे सोम्य, ॥

छठाखण्ड

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

* हर एक वस्तु अन्न जल और तेज तीनोंकी बनी हुई है, इस लिये जो कोई वस्तु जिस किसी प्राणधारी से खाई जाती है, उस में इन तीनों का भाग पाया जाता है, चाहे उनका न्यूनाधिक भाग कुछ ही हो।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीपति तन्मनो भवति ॥ २ ॥ अपा ँ सोम्य ! पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीपति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥ तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीपति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥ अन्नमय ँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

हे सोम्य ! जब दही मथा जाता है, तो उसका सबसे सूक्ष्मभाग ऊपर उठआता है, और वह मक्खन बनता है॥ १ ॥ -

ठीक इसी तरह हे सोम्य ! अन्न जब खाया जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ आता है वह मन बनता है ॥ २ ॥

और हे सोम्य ! जब जल पिया जाता है, तो उसका सबसे सूक्ष्मभाग ऊपर उठ आता है वह प्राण बनता है ॥ ३ ॥

और जब तेज खाया जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्मभाग ऊपर उठ आता है, वह वाणी बनती है ॥ ४ ॥

क्योंकि हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमयी है ॥

पुत्रने कहा भगवन् ! अभी मुझे फिर [अधिक स्पष्ट करके] बितलाएं '

पिताने कहा तथाऽस्तु हे सोम्य ॥ १ ॥

सातवांखण्ड

षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः पञ्च दशाहानि माशीः, काममपः पिब, आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति॥१॥स ह पञ्चदशाहानि नाश। अथहैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इति। ऋचः सोम्य यजू ँ षि सामानीति' सहोवाच। 'नवै मां प्रति भान्ति भो इति'॥ २॥ त ँ होवाच 'यथा सोम्य ! महतो ऽभ्याहितस्यैको ऽङ्गारःखद्योतमात्रःपरिशिष्टःस्यात्, तेन ततोऽपि नबहु दहे ँ सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलाऽति शिष्टास्यात् तयैतर्हि वेदान्ना नुभवस्यशान ॥ ३॥ अथ मे विज्ञास्यसीति'। सहाश। अथ हैनमुपससाद। त ँ ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्व ँ ह प्रतिपेदे। त ँ होवाच ॥४॥ यथा सोम्य ! महतो ऽभ्याहितस्यै कमङ्गारं खद्योत मात्रं परिशिष्टं तं तृणै रुपसमाधाय प्राज्वलयेत्। तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५॥

एव ँ सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलाऽति शिष्टाभूत् साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वलीत, तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमय ँ हि सोम्य मन अपोमयः प्राण स्तेजोमयी वागिति। तद्धास्य विजज्ञाविति, विजज्ञा विति ॥ ६॥

हे सोम्य ! पुरुष सोलह कलावाला* है । तुम पन्द्रह दिन कुछ नहीं खाओ, जल जितना इच्छा हो पीते रहो, प्राण जो जलमय है, वह तुम्हारा कटनहीं जाएगा, जब तुम पानी पीते रहोगे ॥ १ ॥

उसने पन्द्रह दिन तक नहीं खाया । तब वह पिता के पास आया [औरकहा] भगवन् ! क्या सुनाऊं ? पिता ने कहा ' सोम्य ऋचा, यजु और साम मन्त्र [सुनाओ,] । उसने उत्तर दिया ' भगवन् ! वह मुझे नहीं फुरते है ' ॥ २ ॥

पिताने उसे उत्तर दिया ' जैसे हे सोम्य ! जलती हुई अग्नि का एक अंगारा जो जुगुनू जितना है बचरहे, तो उस [अंगारे] से पुरुष उससे बहुत [जितनी उसकी छोटी शक्ति है,उससे तनिक भी अधिक] नहीं जला सक्ता, इस तरह हे सोम्य ! तेरी सोलह कला ओं में से एक कला बाकी बच रही है, और इस लिये उस एक कला से तू हेसोम्य ! अब वेदों को नहीं स्मरण करता है । अच्छा जाओ और खाओ ॥ ३ ॥

तब तू मुझ से इसे समझेगा, । श्वेतकेतुने जाकर भोजन किया और फिर इस के पास आया । अब जो कुच्छ पिता ने उस से पूछा, वह सब उसने जान लिया । तब उसे पिता नेकहा ॥ ४ ॥

जैसे हेसोम्य [जलतीहुई] अग्नि का एक अगारा जो जुगुनू जितना बच रहा है, उस को यदि घास से सुलगा कर फिर चमकादे, तब वह उससे भी बहुत [अधिक] जला सक्ता है । इस प्रकार हेसोम्य ! तेरी सोलह कलाओं में से एक बाकी बच रही

---

* खाए हुए अन्न का जो सूक्ष्मभाग मन में शक्ति डालता है, वह शक्ति जो अन्न से बढती है, उसके सोलह विभाग करके सोलह कला बतलाई है। मनकी उस पूर्ण शक्ति से यह पुरुष सोलह कलावाला कहा है॥

थी, वह अन्न से सुलगाई हुई फिर चमक उठी है, और उससे अब तुम वेदों को स्मरण करते हो। सो हेसोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, और वाणी तेजोमयी है,। अब उसने पिता की बात को जान लिया, हां, उसने जान लिया * ॥ ६ ॥

आठवां खण्ड

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच 'स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति; तस्मादेनं ँ स्वपितीत्याचक्षते स्व ँ ह्यपीतो भवति ॥ १॥

स यथा शकुनिः सूत्रे प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्रणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धन ँ हि सोम्य मन इति' ॥ २॥

उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा 'बेटा! मुझसे तुम स्वप्न † के तत्त्व को सीखो। जब यह पुरुष सोजाता

---

* यहां अन्तिम शब्द का दुहराना इस बात के प्रगट करने के लिये है कि त्रिवृत्करण (अर्थात् हरएक वस्तु तेज जल और अन्न के स्वभाव वाली है,) का प्रकरण समाप्त हुआ ॥

† मन वाणी और प्राण का असली स्वरूप दिखला कर आत्मा का स्वरूप दिखलाने के लिये नया उपदेश आरम्भ करते हैं। स्वप्न से यहां अभिप्राय सुषुप्ति है, सुषुप्ति तकान से होती है, इसमें मन वाणी और दूसरे इन्द्रिय आराम करते हैं, और प्राण जागता है, जीवात्मा उतने काल के लिये परब्रह्म के आश्रय रहता है, उसे कोई विशेष ज्ञान नहीं रहता

है, तब हे सोम्य ! सत (ब्रह्म) के साथ मिलजाता है, वह अपने आप में लीनहोता है । इसलिये उसे स्वपिति कहते हैं, क्योंकि वह अपने आप (स्व) में लीन (अपीत) होता है * ॥ १ ॥

जैसे (शिकारीके) तागे से दृढ़बन्धा हुआ कोई पक्षी (बाज आदि) दिशा २ में उड़ कर (फड़ फड़ाकर) और कहीं आश्रय न पाकर उसी जगह का आश्रय लेता है, जहां वह बन्धा हुआ है, ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! यह मन † दिशा २ में घूमकर और कहीं आश्रय न पाकर प्राण † का ही सहारा लेता है, क्योंकि यह मन हे सोम्य प्राण से बन्धा हुआ है (प्राण के आश्रय है.)

अशनापिपासे मे सोम्य! विजाहीनीति। यत्रैतत्पुरुषो ऽशिशिपति नाम, आप एव तदशितं नयन्ते। तद् यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनायइति, एवं तदपआचक्षते ऽशनायेति । तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य ! विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३॥ तस्य क्वमूलं स्यादन्यत्रा न्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य ! शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसा सोम्य ! शुङ्गेन सन्मूलमन्वि

---

* स्वपिति, यह सोता है यह शब्द 'स्व' (अपने आपमें) और 'अपीत' (लीनहोता है) से निकला, क्योंकि आत्मा उस समय अपने स्वरूप में होता है, न कि बाहरकी दुनिया में ॥

† मन से मन में स्थित जीव, और प्राण से परब्रह्म से अभिप्राय है, जैसा कि और जगह भी उसे प्राण का प्राण और प्राण शरीर इत्यादि कहा है (शंकराचार्य)

न्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

अब हे सोम्य ! तुम मुझसे भूख और प्यास के तत्त्व को सीखो। जब कोई पुरुष, कहा जाता है, कि भूखा है, तो (इसके यह अर्थ है कि) जल उस के खाये हुए को लेजारहे हैं । सो जैसे यह गोनाय अश्वनाय और पुरुषनाय है, इसी प्रकार जल (जो अन्न को जीर्ण करता है और भूख का हेतु है) को कहते हैं अशनाया *। इस प्रकार [अन्न के जीर्ण होने आदि से] यह जो अङ्कुर निकला है [शरीर उत्पन्न हुआ है] विश्वास रक्खो, कि बिना मूल [कारण] के नहीं हुआ होगा [क्योंकि कार्य बिना सत कारण के नहीं होता] उसका मूल सिवाय अन्न † के और कहां [क्या] हो सकता है ? इसी प्रकार

* गोनाय=गौओं का नेता, गवाला । अश्वनाय=घोड़ों का नेता, साईस । पुरुषनाया=पुरुषों का नेता, सेनापति, राजा वा लीडर। इसी प्रकार अशनाया अर्थात् अन्न का ले जाने वाला, जल । अन्न जो खाया जाता है उसको तेजाब जीर्ण करके रस रुधिर आदि रूप में बदल कर सारे शरीर में फैला देता है, इस तरह पर खाए हुए अन्न का जीर्ण हो कर शरीर में फैलना भूख का हेतु है, जो अशनाया (भूख) शब्द से प्रकट किया गया है ॥

† अन्न शरीर का मूल इस तरहसे है। अन्न जब खाया जाता है, तो उसको तेजाब जीर्ण कर देते हैं और वह जाठराग्नि से पक कर रस बनता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से हड्डी, हड्डियों से मज्जा, मज्जा से वीर्य । दूसरी ओर-स्त्री से खाया हुआ अन्न रस आदि के क्रम से रज बनता है । रज और वीर्य जो अन्न का कार्य हैं, इन दोनों के मेलसे नया शरीर बनता है और प्रति दिन के आहार से बढता है ॥

हे सोम्य! अन्न भी एक अङ्कुर है, उस के भी मूल को ढूंढ और वह तेज है। इसी प्रकार हे सोम्य ! तेज भी एक अंकुर है, उस के भी मूल को ढूंढ, और वह हे सोम्य! सत् [ब्रह्म] है *। बस हे सोम्य! इन सारी प्रजाओं का [असली] मूल सत् है अब भी स्थिति काल में यह सत् के आसरे है और अन्त को सत् में लीन होती हैं ॥

आठवां खण्ड

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम, तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इति, एवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य ! विजानीहि, नेदममूलं भविष्यतीति। तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्यः अद्भिः सोम्य! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। स

* यहां निचला चित्र सब जगह ध्यान में रखना चाहिये, क्योंकि इसी क्रम से पूर्व उत्पत्ति दिखलाई है और यही उलटने से लय का क्रम है ॥

सत् (परादेवता)
|
तेज=वाणी
|
जल=प्राण
|
अन्न=मन

य एषोऽणिमा ॥६॥ ऐतदात्म्य मिदꣳ सर्वंतत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति' 'तथा सोम्येति' होवाच॥७॥

(अब प्यास का तत्व बतलाते हैं) और जब कोई पुरुष, कहा जाता है, कि वह प्यासा है तो (इसके यह अर्थ है) कि तेज उस को ले जा रहा है [प्राणादि रूप में बदल रहा है] जो कुछ उस ने पिया है। सो जैसे यह गोनाय, अश्वनाय, पुरुषनाय है। इसी प्रकार उस तेज को कहते है उदन्या * इस प्रकार [पानी के जीर्ण होने आदि से] हे सोम्य ! यह जो अंकुर [शरीर] उत्पन्न हुआ है विश्वास रक्खो यह विना मूल के नहीं होगा ॥८॥

उस का मूल सिवाय जल के और कहां होगा, इसी प्रकार हे सोम्य ! जल भी अंकुर है उस से तू उस के मूल को ढूंढ, वह तेज है और तेज भी एक अंकुर है उस के भी मूल को ढूंढ और वह सत् है। बस हे सोम्य ! इन सारी प्रजाओंका मूल सत् है यह सत् के आश्रय है और सत् मे लीन होती है ॥

हे सोम्य ! जिस तरह पर यह तीन देवता [अन्न जल और तेज] पुरुष को प्राप्त हो कर इन में से हर एक तीन २ गुणा हो जाता है, वह पहिले [३।४।७] कह दिया है। हे सोम्य ! जब कोई पुरुष यहां से चलता [मरता] है तो उसकी वाणी मन में लीन होती है, मन प्राणों में, प्राण तेज में तेज परा देवता [सत्]

---

* उदन्या=प्यास, पयरार्थ जलको लेजाने वाला अर्थात् जल को जीर्ण करता हुआ तेज प्यास का हेतु है ॥

में * सो जो यह सूक्ष्मता [सत्, जो जगत का मूल] है ॥ ६ ॥ यह सब कुच्छ इसी से आत्मा वाला है वह सत्य है वह आत्मा है वह तू है हे † श्वेतकेतो !

[पुत्र ने कहा] हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं ‡ ॥
पिता ने उत्तर दिया' तथास्तु हे सोम्य ' ॥ ७ ॥

नवां खण्ड

यथा सोम्य ! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्यानां वृक्षाणा ँ रसान् समवहारमेकता ँ रसं गमयन्ति ॥ १ ॥ ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमा ! सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति

* जब पुरुष मरता है तो पहिले उसकी वाणी बद होती है, वह बोलता नहीं है,पर समझता है। फिर उसका मन लीन होता है वह कुछ नहीं समझता पर उसकी छाती गरम होती है फिर तेज लीन होता है और वह ठडा होजाता है ॥

† "तत्त्वमसि" यह वेदात का बडा प्रसिद्ध वाक्य उन चार महा वाक्यों में से एक है जो अद्वैतवाद का स्तम्भ माने गये हैं। यह वाक्य यहां नौ बार दुहराया गया है इस पर द्वैत वदियों और अद्वैत वादियों का बहुत कुछ विचार है ॥

अद्वैतवाद का जोर सीधे अर्थ पर है और द्वैतवाद का बल और वाक्यों के सहारे पर इसका दूसरा तात्पर्य मानने में है। देखो सत्यार्थ प्रकाश समास समुल्लास

‡ जब सारी प्रजाएं प्रति दिन सुषुप्ति में सत् में लीन होती हैं, तो वह फिर क्यों नहीं जानतीं हम सत् में लीन हुई हैं यह मुझे फिर प्रगट करें ॥

संपद्यामह इति ॥ २ ॥ त इह व्याघ्रो वा सि ँ हो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा द ँ शो वा मशको वा यद्द यद्द भवन्ति तदाभवन्ति ॥ ३ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्य मिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति ! भूयएव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

जैसे हे सोम्य! मधुमक्खियें शहद बनाती हैं भिन्न २ जगह के वृक्षों के रसों को इकठ्ठा करके और उनको एकरूप में एकरस बना देती हैं। वह जैसे वहां यह विवेक नहीं पासक्ते, कि मैं उस वृक्षका रस हूं, मैं उस वृक्षका रस हूं। इसी प्रकार हे सोम्य! जब [सुषुप्ति में और मरने के पीछे] सारे जीव सत् में लीन होजाते हैं, तो वह नहीं जानते कि हम सत्में लीन हुए हैं ॥२॥ वह यहां जो जो कुछ थे चीते वा शेर भेड़िये वा सूअर वा कीट पतंग वा डांस और मच्छर, वही फिर २ होते हैं ॥३॥ सो जो यह सूक्ष्मता [सत् का मूल] है। यह सब कुछ इसीसे आत्मावाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है! वह तूं है हे श्वेतकेतो!

[पुत्र ने कहा] हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं *

[पिता ने उतर दिया 'तथास्तु हे सोम्य'! ॥ ४ ॥

दसवां खण्ड

इमाः सोम्य! नद्यः पुरस्तात् प्राच्यः स्यन्दन्ते, पश्चात् प्रती

---

* जब कोई पुरुष अपने घर में सोता है और सवेरे उठकर किसी दूसरे गांव में जाता है। वह जानता है, कि मैं अपने घर से आया हूं। तब क्या कारण है कि यह प्रजाएं सत् से आकर नहीं जानतीं, कि हम सत् से आई हैं यह मुझे फिर बतावें ॥

न्यः। ताःसमुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति समुद्र एवभवन्ति ता यथा तत्र न विदु रियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥१॥ एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाःप्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति । तइह व्याघ्रोवा सि ँ होवा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा द ँ शो वा मश को वा यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति । भूयएव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! यह नदियें पूर्वी [गंगा आदि] पूर्वकी तरफ बहती हैं और पश्चिमी पश्चिम की तरफ बहती है। वह समुद्र से समुद्र में लीन होती है [अर्थात् मेघों से पानी समुद्र में से अन्तरिक्ष में खींचा जाता है और फिर बरस कर बहता हुआ समुद्र में जामिलता है] समुद्र ही हो जाती है। वह (नदियें) जैसे वहां नहीं जानतीं कि मैं यह नदी हूं या वह नदी हूं ॥ १ ॥

इसी प्रकार हे सोम्य ! यह सारी प्रजाएं सत् से आकर नहीं जानतीं,कि हम सत् से आई हैं । वह यहा जो कुच्छ थे चीते वा शेर भेड़िये वा सूअर वा कीट पतंग वा डांस और मच्छर। वही फिर फिर होते है ॥ २ ॥

जो यह सूक्ष्मता सब का मूल है, यह सब कुच्छ इसी से आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है। वह तू है हे श्वेतकेतो ! (पुत्र ने कहा) हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं * ॥

* तरंग झाग और बुदबुदे जो पानी से उठते हैं फिर पानी में लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, पर यह प्रजाएं सत् से आकर, सुषुप्ति, मरने

पिता ने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य' ! ॥ ३ ॥

ग्यारहवां खण्ड

अस्य सोम्य ! महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्, यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्, योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्। स एष जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥ अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहाति अथ सा शुष्यति । तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति । सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य ! विद्धीति होवाच ॥ २ ॥ जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

: हे सोम्य ! यदि कोई इस [सामने स्थित] बड़े वृक्ष की जड़ पर चोटदे, तो वह जीता हुआ ही रहेगा [अर्थात् उसमें से रस बहेगा और वह सूख नहीं जाए गा जीता रहेगा] और यदि कोई इसके मध्य पर चोटदे, तो वह जीता हुआ रहेगा। और यदि कोई चोटी पर चोटदे तो जीता हुआ रहे गा। यह [वृक्ष] जीते हुए आत्मासे व्याप्त

और प्रलय में सत् में लीन होती हुई मर क्यों नहीं होजाती, यह मुझे फिर बतलाएं ॥

हुआ [और पुष्टि कारक रसों को] पूरी तरह पीता हुआ हरा भरा हो कर खड़ा रहता है ॥ १ ॥

पर जब इसकी एक शाखा को जीव छोड़ देता है, तब वह सूख जाती है, दूसरी को छोड़ देता है, वह सूख जाती है, तीसरी को छोड़ देता है, वह सूख जाती है, सारे वृक्ष को छोड़ देता है, सारा वृक्ष सूखजाता है । इसी प्रकार हे सोम्य ! तुम जानो ॥ २ ॥

कि जीव से पृथक् हुआ यह [शरीर] मरता है, जीव नहीं मरता है, सो जो यह सूक्ष्मता सबका मूल है, यह सब कुच्छ इसी से आत्मा वाला है वह सत्य है। वह आत्मा है। वह तू है हे श्वेतकेतो ! [पुत्र ने कहा] हे भगवन् ! मुझे फिर बतलाएं * ॥

पिता ने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य' ! ॥ ३ ॥

बारहवां खण्ड

" न्यग्रोधफलमत आहरेति " " इदं भगवइति " " भिन्धीति " " भिन्नं भगवइति " " किमत्र पश्यसीति " " अण्व्य इवेमा धाना भगव इति " " आसामङ्गैकां भिन्धीति " " भिन्ना भगवइति " " किमत्र पश्यसि " " किञ्चन न भगव इति " त ँ होवाच ॥ १ ॥ " यं सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्यवै सोम्यैषो ऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति ॥ २ ॥ श्रद्धत्स्व सोम्येति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स

---

* यह पृथिव्यादि नाम रूप जगत् अत्यंत सूक्ष्म उस सद्रूप से कैसे उत्पन्न होता है जो स्वयं नाम रूप से रहित है॥

ात्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति । भूयएव मा
गवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इस [वड के वृक्ष] से बड़का फल लाओ ॥
यह है हे भगवन् !॥
इसे तोड़ो ॥
तोड दिया है हे भगवन् ! ॥
इसमें क्या देखते हो ? ॥
बड़े सूक्ष्म से दाने हे भगवन् ॥
प्यारे इन [दानों] मे से एक को तोड़ो ॥
तोड़ दिया है हे भगवन् ! ॥
इस में क्या देखते हो ॥
कुच्छ नही है भगवन् ! ॥ १ ॥

उस को उसने कहा हे सोम्य ! तू अब जिस सूक्ष्मता को नही देखता है इसी सूक्ष्मता से हे सोम्य ! यह इतना बडा बड़ का वृक्ष खडा होजाता है ॥ २ ॥

विश्वास करो हे सोम्य ! कि जो यह सूक्ष्मता सब का मूल है यह सब कुच्छ इसी से आत्मा वाला है वह सत्य है वह आत्मा है वह तू है हे श्वेतकेतो !

[पुत्र ने कहा] हे भगवन् ! मुझे फिर बतलाएं * ॥
पिताने उत्तर दिया तथास्तु हे सोम्य ! ॥ ३ ॥

तेरहवां खण्ड

लवण मेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति।

† यदि वह सत् जगत् का मूल है तो फिर अनुभव क्यों नहीं होता ॥

सह तथा चकार । त ँहोवाच यद्दोषा लवण मुदके ऽवाधाअङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद यथा विलीनमेवाङ्ग ॥१॥ "अस्यान्तादाचामेति" । "कथमिति" "लवण मिति" "मध्यादाचामेति" कथमिति" "लवण मिति" अन्तादाचामेति" "कथमिति" "लवणमिति" अभिप्रास्यैनदथ मोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छश्वत् संवर्त्तते । त ँहोवाच अत्र वाव किल तत्सोम्य ! न निभालयसि । अत्रैव किलेति ॥ २॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँसर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति भूय एव मा भगवान् विज्ञपयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

इस लवण को पानी में डाल कर फिर सवेरे मेरे पास आओ उस ने वैसा ही किया । पिता ने उसे कहा । बेटा जो लवण तुमं रातको पानी में डाला था उसे लेआओ । पुत्र ने उसे ढूंढा । नहीं पाया क्यों कि वह इस में घुल गया था ॥ १ ॥

पिता ने कहा इसके ऊपर से आचमन करो । कैसा है ?
सलूना [खारी] है ॥
मध्य से आचमन करो कैसा है ॥
सलूना है ॥
अच्छा अब इसको छोड़कर मेरे पास आओ । उसने वैसा ही कि [और कहा] वह [लवण] सारे विद्यमान है ॥

उसको पिता ने कहा इसी प्रकार यहां [शरीर में] ही है वह सत् हे सोम्य ! तुम नहीं देखते हो निःसंदेह वह यहां ही है॥ २॥

विश्वास करो हे सोम्य कि जो यह सूक्ष्मता सब का मूल है यह सब कुच्छ इसीसे आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है वह तू है हे श्वेतकेतो ! [पुत्रने कहा] हे भगवन् ! मुझे फिर बतलायें* पिताने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य' ! ॥ ३ ॥

चौदहवां खण्ड

यथा सोम्य ! पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्ष मानीय तं ततो ऽतिजने विसृजेत् । स यथा तत्र प्राङ्वोदङ् वाधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतो ऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥ १ ॥ तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयाद " एतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति " स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोप संपद्येत, एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद । तस्य तावदे व चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ संपत्स्य इति ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्य मिद ँ सर्व तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकतो ! इति भूयएव मा भगवान् विज्ञपयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

*यदि ऐसे है तो लवण की तरह जगत् का मूल भी यह सत् किसी उपाय से उपलब्ध होना चाहिये यद्यपि वह इन्द्रियों से उपलब्ध नहीं होता। उसकी उपलब्धि का क्या उपय है।

जैसे हे सोम्य ! कोई पुरुष किसी पुरुष को कन्धार से आंखें बांध कर लेआए और उसको निर्जन जंगल में छोड़दे । जैसे वह वहां पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण की तरफ़ घूमता हुआ पुकार करे, कि मुझे आंखें बांधकर लाया गया है और बांधी हुई आंखें से छोड़ दिया गया है* ॥ १॥

इस पर जैसे कोई पुरुष उसकी पट्टी खोलकर बतलाए, कि इस दिशा की तरफ़ कंधार है तुम इस दिशा को चलेजाओ । वह यदि विद्वान् और समझवाला है, तो एक गांव से दूसरे गांव का रस्ता पूछता हुआ निःसंदेह कंधार पहुंचजाएगा । ठीक इसी तरह यहा भी वह पुरुष जिसको आचार्य मिलगया है, वह उस [सत्] को जानलेता है।उसके लिये उतनीदेर ही देर है,जबतक वह [देह से]नहीं छूटेगा,तब वह सत्को प्राप्त होगा । सो जो यह सूक्ष्मता सबका मूल है,यह सबकुच्छ इसी से आत्मावाला है । वह सत्य है।वह आत्मा है । वह तू है हे श्वेतकेतो ! [पुत्रने कहा] हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं † पिताने उत्तर दिया तथास्तु हे सोम्य ! ॥ ३ ॥

---

* ठीक ऐसे ही मनुष्य बंद आंखों के साथ लोक में आया है और बंधी हुई आंखों से ही छोड़दिया गया है । यह कंधारी से भी बढ़कर बंद आंखों से लाया गया है,क्योंकि इसे यह भी पता नहीं कि मैं कहां से आया हूं । पर जैसे कंधारी को उपदेष्टा मिलजाने से अपने देश को पहुंचजाता है । ऐसे ही यह भी उस देश के जाननेवाले आचार्य के मिलजाने से असल देश को पालेता है ॥

† आचार्यवाला पुरुष जिस क्रम से सत् को प्राप्त होता है वह क्रम मुझे दृष्टान्त द्वारा बतलाएं ॥

पन्द्रहवां खण्ड

पुरुष ँ सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्य्युपासते 'जानासि मां जानासि मामिति'। तस्य यावन्न वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, तावज्जानाति ॥ १ ॥ अथ यदा ऽस्य वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥ स य एषो ऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति'। 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति'। 'तथा सोम्येति होवाच' ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! जब कोई पुरुष बीमार होता है, तो उसके सम्बन्धी बान्धव उस के आस पास बैठ जाते हैं [यह कहतेहुए] "क्या तुम मुझे जानते हो, क्या तुम मुझे जानते हो"। जब तक उस की वाणी मन में लीन नहीं होती, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परा देवता [सत्] में [लीन नहीं होता] तब तक वह जानता है ॥ १ ॥

पर जब उसकी वाणी मनमें लीन होजाती है, मनप्राण में और प्राण परादेवता में [लीन हो जाता है], तब वह उन को नहीं जानता है * ॥ २ ॥

---

* मरने का क्रम जो अज्ञानी के लिये है वही ज्ञानी के लिये है। अज्ञानी सत् को प्राप्त हो कर नहीं जानते, कि हम उस को प्राप्त हुए हैं, और वापिस आकर नहीं जानते कि हम सत् से वापिस आए हैं। पर ज्ञानी ...को पाकर अज्ञानी नहीं होता।

सो जो यह सूक्ष्मता (सबका मूल है) यह सब कुछ इसी से आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है। वह तू है, हे श्वेतकेतो!' [पुत्र ने कहा] हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं * । पिता ने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य!' ॥३॥

सोलहवां खण्ड

पुरुष ँ सोम्योत हस्तगृहीत मानयन्ति "अपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति"। स यदि तस्य कर्ता भवति, तत एवानृतमात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मान मन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति। स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥ अथ यदि तस्याकर्ता भवति, तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मान मन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥ स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्य मिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति'। तद्धास्य विजिज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

हे सोम्य जैसे किसी पुरुष को हाथ से पकड़कर लाते हैं कि "इसने कोई चीज़ उडाली है इसने चोरी की है" (यदि वह

---

* वह जो सत् को नहीं जानता है और वह जो जानता है, मर कर जब दोनों ही सत् को प्राप्त होते हैं, तो जानने वाला उसको पालेता है, और न जानने वाला नए जन्म के लिये फिर वापिस आता है, इसमें क्या कारण है वह मुझे फिर दृष्टान्त द्वारा बतलाएं॥

इनकार करता है, तो वे कहते हैं) "इसके लिये कुल्हाड़ा [लोहा] तपाओ"* अब यदि वह उसका (चोरीका) करने वाला होता है, तब वह निःसंदेह अपने आप को झूठा बनारहा है, वह झूठे अभिप्राय वाला झूठ से अपने आप को ढांप कर तपे हुए लोहे को पकड़ता है, तो दग्ध होता है और (राजपुरुषों से) मारा जाता है ॥ १ ॥

और यदि वह उसका (चोरीका) करने वाला नहीं होता है, तब वह अपने आपको सच्चा बनारहा है, वह सच्चे अभिप्राय वाला सचाई से अपने आप को ढांप कर तपे हुए लोहे को पकड़ता है, वह दग्ध नहीं होता, और वह छुट जाता है ॥ २ ॥

जैसे वह [सच्चा] पुरुष वहां दग्ध नहीं होता † इस प्रकार यह सब इससे आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है। वह तू है हे श्वेतकेतो ! । तब उसने उसकी बात को जानलिया हां, उसने उसको जानलिया ॥ ३ ॥

---

* जहां किसी लौकिक उपाय से सच्चे झूठे का पता न लगसके, वहां सच्चे झूठे की परीक्षा के लिये यह दिव्य उपाय स्मृतियों में बतलाया गया है ॥

† तपे हुए लोहे को सच्चा और झूठा दोनों पकड़ते हैं। एक के हाथ को सचाई लपेटे हुए है और वह अग्नि के दाह से बचजाता है। दूसरा आग के और हाथ के मध्य में झूठका परदा डालता है, इस लिये उसके असर से नहीं बचता। इसी प्रकार मरने के पीछे यद्यपि दोनों ही सत् को प्राप्त होते हैं, वह भी जो उसको जानता है और वह भी जो नहीं जानता है, तथापि फल दोनों के लिये भिन्न २ होजाते हैं। एक ब्रह्मानन्द को पहुंचता है और दूसरा नए जन्म के लिये वापिस आता है ॥

सातवां प्रपाठक *-पहला खण्ड

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः। त ँ होवाच "यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति "॥१॥ स होवाच 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि युजर्वेद ँ सामवेद माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्य ँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्य मेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्र विद्या ँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥ सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। श्रुत ँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहंभगवः शोचामि,तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति। त ँ होवाच यद्वैकिञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥ नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या । नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥ स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते ।

* छठे प्रपाठक में जगत् के मूल परा देवता का उपदेश दिया है, उसमें निचले तत्त्वों की महिमा नहीं दिखलाई। अब इस सातवें प्रपाठक में स्थूलसे लेकर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर विषय को जितलाते हुए अन्त में

" अस्तिभगवो नाम्नो भूय इति " ? ' नाम्नो वाव भूयो ऽस्तीति '। 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ ५ ॥

नारद सनत्कुमार के पास आया और कहा ' हे भगवन् मुझे शिक्षा दो' ।सनत्कुमार ने उसे कहा 'जो कुच्छ तुम जानतेहो, वह मुझे बतलाओ, तब मैं उसके आगे तुम्हें बतलाऊंगा ' ॥१॥

नारद ने कहा ' हे भगवन् मैं ऋग्वेद पढ़ा हूं, तथा यजुर्वेद सामवेद और चौथा आथर्वण पांचवां इतिहास पुराण. वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजनकीविद्या, यह सब हे भगवन् मैं पढ़ा हूं ॥ १ ॥ *

उसी परा देवता का निर्देश किया है अर्थात् नाम आदि जो एक दूसरे से उत्तम हैं उन सब से बढ़कर भूमा नामी तत्त्व है उसकी प्राप्ति के लिये नाम आदियों की क्रम से महिमा बतलाई है। मानों यह एक सीढ़ी२ भूमा तक पहुंचाने का उपाय है ॥

* यहां हमें बहुतसी विद्याओं का पतालगता है जो उपनिषदों के समय आर्य्यावर्त्त में आम तौर पर पढ़ी पढ़ाई जाती थीं। परन्तु इन विद्याओं से क्या कुच्छ अभिमत है इसका निर्णय प्राचीन प्रमाणों पर निर्भर रखता है जिसके लिये हम अन्वेषण कर रहे हैं। शंकराचार्य ने इसविषय में यह लिखा है ऋग्वेद। यजुर्वेद। सामवेद। अथर्ववेद। इतिहास पुराण (भारत) पांचवां वेद। वेदों का वेद = व्याकरण। पित्र्य = श्राद्धकल्प। राशि = गणितशास्त्र। दैव = उत्पातज्ञानशास्त्र। निधि = महा कालादिनिधिशास्त्र। वाकोवाक्य = तर्कशास्त्र। एकायन = नीतिशास्त्र। देवविद्या = निरुक्त। ब्रह्मविद्या = शिक्षाकल्प और छन्द। भूतविद्या = भूत तन्त्र। क्षत्रविद्या = धनुर्वेद। नक्षत्रविद्या = ज्योतिष। सर्पविद्या = गारुड़। देवजनविद्या = गन्ध की योजना, नृत्य, गीत, बजाना और शिल्प आदि का विज्ञान ॥ मिलाओ १।१।४; १।२।२;। ७।१

सो हे भगवन् ! मैं केवल मन्त्रों को जानता हूं, आत्मा को नहीं जानता*। मैं ने आप जैसे पुरुषों से सुना है कि जो आत्मा को जान लेता है वह शोक से परे होजाता है। सो मैं हे भगवन्! शोक में हूं आप मुझे शोक से पार करें ॥

सनत्कुमार ने उत्तर दिया। 'जो कुच्छ तुमने यह पढ़ा है यह केवल नाम है ॥ ३ ॥

नामही ऋग्वेद है, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण पांचवां इतिहासपुराण, वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजन की विद्या, यह सब नाम ही है। नाम को ही तुम उपासो ॥ ४ ॥

वह जो नाम को ब्रह्म के तौर पर उपासता है। जहां तक नाम की पहुंच है, वहां तक इसकी इच्छानुसार होती है, (कोई रोक नहीं होती है=मालिक होता है) जो नाम को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

(नारद) "क्या हे भगवन् नाम से बढ़ कर कोई वस्तु है" ॥
(सनत्कुमार) "हां नाम से बढ़कर है" ॥
(नारद) 'भगवन्! मुझे वह बताएं' ॥ ५ ॥

दूसरा खण्ड

वाग्वाव नाम्नो भूयसी। वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेद ँ सामवेद माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ँ सर्पदेवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुं चाकाशं चा

*'यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति' जो उसे नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा (ऋ १।१६४।३९) ॥

पश्चतेजश्च देवा ँश्च मनुष्या ँश्च पशू ँश्च वयां ँसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्या कीटपतङ्गपिपीलकं धर्मश्चाधर्मश्च सत्यञ्चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञञ्चा हृदयज्ञञ्च । यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु नहृदयज्ञो नाहृदयज्ञः। वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति, वाचमुपास्स्वेति ॥१॥ स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते'। 'अस्ति भगवो वाचो भूय इति'। 'वाचो वाव भूयोऽस्तीति' 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति'। २।

वाणी नाम से बढ़कर है। यह वाणी है, जो इनसब को पूरा २ जितलाती है-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण पांचवां इतिहास पुराण, वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या सर्प और देवजनकी विद्या; द्यौ, और पृथिवी; वायु और आकाश; जल और तेज; देवता और मनुष्य; पशु और पक्षी; तृणऔर वनस्पति; सब हिंस्रजन्तु कीट, पतंग और चींटीतक; धर्म और अधर्म; सत्य और झूठ; भला और बुरा; प्रिय* और अप्रिय। यदि वाणी न होती, तो न धर्म जानाजाता, न अधर्म; न सच न झूठ; न भला न बुरा

* हृदयज्ञ=अक्षरार्थ, हृदय का प्यारा॥

नें प्रिय न अप्रिय। वाणी ही यह सबकुछ हमें समझाती है। वाणी को उपासो ॥ १॥

वह जो वाणी को ब्रह्म के तौरपर उपासता है, उसके लिये जहांतक वाणी की पहुंच है, वहां तक कोई रोक नहीं रहती-जो वाणी को ब्रह्म के तौरपर उपासता है॥

'क्या है भगवन्! वाणी से बढ़कर कोई वस्तु है'?

'हां, वाणी से बढ़कर है'॥

'भगवन्! वह मुझे बतलाएं'॥ २॥

तीसरा खण्ड

मनो वाव वाचो भूयः। यथावै द्वे वा आमलके द्वे वा कोले द्वौ वा ऽक्षौ मुष्टि रनुभवत्येवं वाचं च नामच मनोऽनु भवति।सयदा मनसामनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते, कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते, पुत्राꣳश्चपशूꣳश्चेच्छेये त्यथे च्छते, इमञ्चलोक ममुञ्चेच्छेयेत्यथेच्छते। मनोह्यात्मा मनोहि लोको मनोहि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥ १॥ स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते, यावन्मसो गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति, यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ती भगवो मनसो भूयइति'? 'मनसो वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भागवान् ब्रवीत्विति'॥ २॥

मन वाणी से बढ़कर है, क्योंकि जिस प्रकार एक बंदमुट्ठी दो आंवलों वा दोबेरों या दोबहेड़ों को अनुभव करती है (=अप

ने अन्दर रखती है) इस प्रकार मन नाम और वाणी इन दोनों को अनुभव करता है*। जब कोई पुरुष मन से ख्यालकरता है, कि मैं मन्त्रों को पढ़ूं, तब वह पढ़ता है, (जब ख्याल करता है) मैं कर्म करूं, तब वह कर्म करता है। (जब ख्याल करता है) मैं पुत्र और पशुओं को चाहूं, तब वह उनको चाहता है; (जब ख्याल करता है) इसलोक और उसलोक को चाहूं, तब वह उनको चाहता है †। मन निःसंदेह आत्मा है, ‡ मन लोक है, मन ब्रह्म है §, मनको उपासो ॥ १ ॥

वह जो मन को ब्रह्म के तौरपर उपासता है, जहां तक मनकी पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं रहती. जो मन को ब्रह्मके तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् ! मन से बढ़कर कोई वस्तु है' ?

'हां, मन से बढ़कर है' ॥

'भगवन् ! वह मुझे बतलाएं' ॥ ३ ॥

---

* मन में जब ख्याल आता है, तब वह वाणी को वक्तव्य विषय में प्रेरता है, इस प्रकार वाणी मन के अन्तर्गत है। और नाम वाणी के अन्तर्गत है ॥

† पुत्र पशु और लोक परलोक की प्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान करके उनको प्राप्त होता है ॥

‡ क्योंकि आत्मा मन के साधन से काम करता है, और भोग भोगता है ॥

§ मनही लोक की प्राप्ति का साधन है और ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है ॥

चौथा खण्ड

संकल्पो वाव मनसो भूयान्। यदा वै संकल्पयते ऽथमनस्यत्यथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति। नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्माणीति॥ १॥
तानि ह वेतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि। समक्लृप्तां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशञ्च, समकल्पतामापश्च तेजश्च, तेषा ँ संक्लृप्त्यै वर्ष ँ संकल्पते, वर्षस्य संक्लृप्त्यै अन्न ँ संकल्पते, ऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते, प्राणाना ँ संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते, मन्त्राणा ँ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते, कर्मणा ँ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते, लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्व ँ संकल्पते, स एष संकल्पः, संकल्प मुपास्स्वेति॥ २॥

संकल्प * मन से बढ़कर है, क्योंकि जब पुरुष संकल्प करता है, तब वह ख्याल करता है, तब वाणी को प्रेरता है, और वह उसको (वाणी को) नाम (शब्द) में प्रेरता है। नाम में मन्त्र एक होते हैं, और मन्त्रों में कर्म †॥ १॥

* संकल्प=इरादा, मनुष्य का जैसे संकल्प होता है, वैसे उसके ख्याल बनते हैं इसलिये संकल्प ख्याल से बढ़कर है॥

† मन्त्र और क्रिया शब्दरूप हैं, वह नाम में एक होजाते हैं; अर्थात् नाम के अन्तर्गत हैं। क्योंकि विशेष सामान्य के अन्तर्गत होता है।

सो इन सब (मनसे लेकर कर्मपर्यन्त) का संकल्प एक आश्रय (केन्द्र) है, (संकल्प की ओर खिचे जारहे हैं) यह संकल्पस्वरूप (संकल्प के बने हुए) हैं और संकल्प में रहते हैं। द्यौ और पृथिवी (मानोंएक) संकल्पवाले हैं, वायु और आकाश (मानों एक) संकल्प वाले हैं, जल और तेज (मानों एक) संकल्पवाले हैं *। उनके (द्यौ, पृथिवी

मन्त्रों में कर्म एक होते हैं। मन्त्रों से प्रकाशित किये हुए ही कर्म किये जाते हैं, कोई कर्तव्य ऐसा नहीं, जो मन्त्रों में न बतलाया हो। जो कर्म मन्त्र से प्रकाश पाकर (प्रगट होकर) आत्मलाभ करचुका है, ब्राह्मण उसके विषय में यह विधान करता है, कि यह कर्म इस फल के लिये करना चाहिये इत्यादि। और जो ब्राह्मणों में कर्मों की उत्पत्ति देखीजाती है (*अर्थात् नया कर्म बतला हुआ प्रतीत होता है*) वह भी मन्त्रों में जो कर्म सत्ता पाचुके हैं, (जो मन्त्रों में संक्षेप से आचुके हैं) ऐसे कर्मों को स्पष्ट किया गया है। ऐसा कोई कर्म नहीं, जिस की उत्पत्ति केवल ब्राह्मण में हो, और मन्त्रों ने उसका प्रकाश न किया हो। लोक में भी यह प्रसिद्धि है, कि कर्म त्रयी से विधान किया गया है, और त्रयी शब्द ऋग्, यजु, साम इन तीनप्रकार के मन्त्रों का नाम है। मुण्डक उपनिषद् में भी लिखा है, कि 'मन्त्रों में ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा' इसलिये यह ठीक है, कि मन्त्रों में कर्म एक होते हैं' (*शंकराचार्य*) ॥

* यहां 'समक्लृताम, समकल्पेताम, समकल्पताम' इन भिन्न प्रकार के शब्दों के प्रयोग में क्या अभिप्राय का भेद है, यह बात स्पष्ट नहीं हुई, न किसी पूर्व व्याख्याकार ने ही की है। द्यौ और पृथिवी संकल्पवाले है, इत्यादि का यह अभिप्राय है, कि यह एक संकल्प (ईश्वर संकल्प) के अधीन काम करते हैं, और इसीलिये यह सारे इस तरह काम करते हैं, जिससे एकदूसरे के काम में सहायता मिलती है, मानों यह सारे एक अभिप्राय को रखकर काम में लगे हुए हैं ॥

आदि के) संकल्प से वर्षा संकलपवाली होती है; वर्षा के संकल्प से अन्न संकल्पवाला होता है; अन्न के संकल्प से प्राण संकल्पवाले होते हैं, प्राणों के संकल्प से मन्त्र संकल्पवाले होते हैं, मन्त्रों के संकल्प से कर्म संकल्पवाले होते हैं, कर्मों के संकल्प से लोक संकल्प वाला होता है, लोक के संकल्प से हर एक वस्तु संकलपवाली होती है * यह है (इतने सामर्थ्य वाला) संकल्प, सो तुम संकल्प को उपासो ॥ २ ॥

वह जो संकल्प को ब्रह्म के तौरपर उपासता है, वह स्वयं अकम्प्य (निश्चल) प्रतिष्ठावाला और दुःख से रहित हुआ उन लोकों को प्राप्त होता है, जो संकल्प वाले हैं, ध्रुव हैं, प्रतिष्ठा वाले हैं और दुःख से रहित हैं। जहां तक संकल्प की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं रहती, जो संकल्प को ब्रह्म के तौरपर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् ! संकल्प से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥
'हां संकल्प से बढ़कर है' ॥
'भगवन् ! वह मुझे बतलाएं ॥ ३ ॥

---

* अभिप्राय यह है, कि द्यौ और पृथिवी आदि ने जिस अभिप्राय से काम आरम्भ किया है, उस अभिप्राय को पूरा करने के लिये वर्षा बनती है, आगे उस अभिप्राय को पूरा करने के लिये अन्न होता है, अन्न से प्राण (जीवन की उत्पत्ति और उसका धारण)। जीवन का रस्ता दिखलाने के लिये मन्त्र, मन्त्र कर्म द्वारा सफल होते हैं, कर्म हमारे भविष्यत् को सुधारता है, भविष्यत् के सुधरने से दुनिया की हर एक वस्तु हमारे लिये सुखदायी बनजाती है। मानों एक संकल्प इन सब के अन्दर बहरहा है, जिससे यह सारा जगत् हमारी सेवा में लगरहा है, और यह ईश्वर का पवित्र और सत्य संकल्प है ॥

पांचवां खण्ड

चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः। यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयते
थ मनस्यत्यथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति, नाम्नि
न्त्रा एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥ तानि
वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रति-
ष्ठितानि । तस्माद् यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नाय
स्तीत्येवैनमाहुः । यदयं वेद यद्वाऽयं विद्वान्नेत्थमचित्तः
स्यादिति । अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति, तस्मा एवोत
शुश्रूषन्ते । चित्त ँ ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं
तिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥२॥ स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते, चि-
न् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्य
मानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति । यावच्चित्तस्य गतं तत्रा
त यथाकामचारो भवति, यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति
गवश्चित्ताद् भूय इति' 'चित्ताद् वाव भूयोऽस्तीति'
न्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ ३ ॥

चित्त * संकल्प से बढ़कर है । क्योंकि जब कोई पुरुष सो
ता है, तब वह [उसकाम को करने या त्यागने, अथवा उसवस्तु
लेने वा छोड़नेका] संकल्प करता है, और तब वाणी को प्रेरता

* चित्त=बोध, सोच, समझ, गौर, फ़िकर। अर्थात् अब क्या करना चा-
ये, आगे इसका क्या फल होगा, और पीछे पमी अवस्था में कैसे
मों का क्या परिणाम निकला है, इसविषय में बुद्धि पूरी २ लड़ानी ॥

है, और वह उसको [वाणी को] नाम में प्रेरता है, नाम में मन्त्र एक होते हैं, और मन्त्रों में कर्म ॥ १ ॥

सो इन सब [संकल्प से लेकर कर्मपर्यन्त] का चित्त एकाग्र [केन्द्र] है, यह चित्तस्वरूप हैं, और चित्त में रहते हैं। इसलिये यदि कोई पुरुष सोच से शून्य [अचित्त] हो, तो चाहे वह बहुत कुछ भी जानता हो, तौभी लोग उसके विषय में कहते हैं, कि यह कुछ नहीं है [नहोने के बराबर है] जो यह जानता है । यदि यह विद्वान् होता, तो ऐसा बेसोच [बेसमझ=अचित्त] न होता । पर यदि कोई पुरुष सोचवाला होता है, तो चाहे वह थोड़ा भी जानता हो, लोग उसकी बात को खुशी से सुनना चाहते हैं । क्योंकि चित्त इन सबका आश्रय [केन्द्र] है, यह चित्तस्वरूप हैं, चित्त में रहते हैं। सो तुम चित्त को उपासो ॥ २ ॥

वह जो चित्त को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह स्वयं दृढ़, ध्रुव, प्रतिष्ठावाला और दुःख से रहित हुआ उनलोकों को प्राप्त होता है, जो सोच से पूर्ण, अटल, प्रतिष्ठावाले और दुःख से रहित है । जहां तक चित्त की पहुंच है, वहां तक इसके लिये कोई रोक नहीं होती, जो चित्त को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन् ! चित्त से बढ़कर कोई वस्तु है'

'हां चित्त से बढ़कर है'

'हे भगवन् मुझे वह बतलाएं'

छटा खण्ड

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः । ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीव वान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता

ध्यायन्तीव देवमनुष्याः । तस्माद् य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति । अथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्ते । अथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति, ध्यानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥ स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद् ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवो ध्यानाद् भूय इति'। 'ध्यानाद् वाव भूयो ऽस्तीति' 'तन्मे भगवन् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

ध्यान * चित्त से बढ़कर है । यह पृथिवी मानों ध्यान में लगी हुई है और इसी प्रकार अन्तरिक्ष, द्यौ, जल, और पर्वत ध्यान में लगे हुए हैं, देवता और मनुष्य † ध्यान में लगे हुए हैं। इस लिये वह लोग जो यहां मनुष्यों में से [धन, विद्या, वा गुणोंद्वारा] महत्त्व [बड़ाई] को प्राप्त होते हैं, तो वह निःसंदेह ध्यान के फल का कुछ हिस्सा लिये हुए प्रतीत होते हैं [क्योंकि वह गम्भीर और शान्त प्रतीत होते हैं] । जो छोटे दर्जे के मनुष्य हैं, वह लड़ाई

---

* ध्यान=एकाग्रता, चित्त को एक जगह पर टिकादेना । जब कोई पुरुष किसी गम्भीर विषय पर ध्यान लगाता है, तो वह शान्त और निश्चल होता है । पृथिवी और अन्तरिक्ष आदि इसी तरह से शान्त और अपनी मर्यादा में निश्चल हैं, मानों वह ध्यान में लगे हुए हैं ॥

† अथवा देव मनुष्य, मनुष्यों में जो शान्तिआदि दैवी संपदा वाले हैं (शंकराचार्य)

झगड़े वाले, चुगलियां करने वाले और निन्दा करने वाले होते हैं। पर जो प्रभुता वाले [ऊंचे दर्जे के] मनुष्य हैं, वह ध्यान के फल का कुछ हिस्सा लिये हुए प्रतीत होते हैं। सो तुम ध्यान को उपासो ॥१॥

वह जो ध्यान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, जहां तक ध्यान की पहुंच है, वहां तक उसे कोई रोक नहीं होती, जो ध्यान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है॥

'क्या हे भगवन्! ध्यान से बढ़कर कोई वस्तु है'॥

'हां, ध्यान से बढ़कर है'॥

'भगवन् मुझे वह बतलाएं'॥

सातवां खण्ड

विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयः। विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाको वाक्य मेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳसर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशंचापश्चतेजश्चदेवाꣳश्चमनुष्याꣳश्चपशवश्चवयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मञ्चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति, विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥ स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते, विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति, यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भ-

वति, यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवो विज्ञानाद्‌ भूय इति' । 'विज्ञानाद्व वाव भूयोऽस्तीति' 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

विज्ञान ध्यान से बढ़कर है * । विज्ञानद्वारा मनुष्य ऋग्वेद को जानता है, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे आर्थवण, पांचवें इतिहास-पुराण, वेदों के वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजन की विद्या, द्यौ और पृथिवी, वायु ओर आकाश, जल और तेज, देवता और मनुष्य, पशु और पक्षी; तृण और वनस्पति; सारे हिंस्र जन्तु कीड़े पतंगे और चीटी तक; धर्म और अधर्म; सत्य ओर झूठ; भलाई और बुराई; प्रिय और अप्रिय; अन्न और रस; यह लोक और वह लोक, इन सब को विज्ञान द्वारा ही पुरुष जानता है । सो तुम विज्ञान को उपासो ॥ १ ॥

वह जो विज्ञान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह विज्ञान वाले और ज्ञानवाले † [लोगों से युक्त] लोकों को प्राप्त होता है; जहा तक विज्ञान की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो विज्ञान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन्‌ ! विज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

---

* विज्ञान, शास्त्र के विषय का ज्ञान, विज्ञान कारण है और ध्यान उसका कार्य है, क्योंकि पहले वस्तु जानी जाती है, तब उसपर ध्यान जमायाजाता है, इसलिये ज्ञान ध्यान से बढकर है ॥

† विज्ञान, शास्त्र के विषय का ज्ञान, और ज्ञान, दूसरे लौकिक विषयों में निपुणता (शंकराचार्य)

'हाँ विज्ञान से बढ़कर है' ॥

'भगवन ! मुझे वह बतलाएं' ॥ २ ॥

आठवां खण्ड

बलं वाव विज्ञानाद् भूयः। अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वया ँसिच तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्ग पिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद् बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचरो भवति, यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवो बलाद् भूयः इति'। 'बलाद् वाव भूयो ऽस्तीति' 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

बल विज्ञान से बढ़कर है*। बलवाला एक पुरुष विज्ञान वाले सौ पुरुषों को कम्पा देता है। जब कोई पुरुष बलवाला होता

---

* पुष्टि कारक अन्न के उपयोग से जो शरीर में बल उत्पन्न होता है, वही शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य की प्रतिमा [नया २ फुरना

है, तो वह उद्योगी [उद्यमी] बन जाता है। और जब वह उद्योगी होता है, तो वह [आचार्यों] का सेवन करने वाला बनता है, और जब वह उनकी सेवा करता है, तो वह उन का निकटवर्ती [अन्तरङ्ग, विद्यादान का पात्र] बनता है, और जब वह निकटवर्ती बनता है, तो वह देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, करने वाला, और समझने वाला बन जाता है [उस के सारे इन्द्रियों के बोध खुल जाते हैं] बल से पृथिवी [अपनी मर्यादा में] खड़ी है, बल से अन्तरिक्ष, बल से द्यौ, बल से पर्वत, बल से देवता और मनुष्य, बल से पशु और पक्षी, तृण और वनस्पति, सर्वहिंस्र जन्तु कीट पतंग और चींटीतक; बल से लोक [दुनिया] खड़ा है। गौतम बल को उपासो॥ १ ॥

वह जो बलको ब्रह्म के तौर पर उपासता है, जहां तक बल की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो बल को ब्रह्म के तौर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् बल से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां बल से बढ़कर है' ॥

'भगवन् मुझे वह बताएं' ॥

नवां खण्ड

अन्नं वाव बलाद् भूयः । तस्माद् यद्यपि दश रात्री र्नाश्नीयाद्, यद्यु ह जीवेदथवा ऽद्रष्टाऽश्रोता

को बढ़ाता है और उद्योगी तथा स्वस्थेन्द्रिय बना कर उस के लिये नए विज्ञान के द्वार खोल देता है, इस लिये बल विज्ञान से बढ़कर है। और कभी २ तोसीधे तौर पर भी बल विज्ञान से बढ़ जाता है, अर्थात विज्ञान वालों का वास्ता किसी बल वाले से सीधा पड़ जाता है ॥

ऽमन्ता ऽबोद्धाऽकर्ता ऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥ स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते ऽन्नवतो वै स लोकान् पान-वतो ऽभिसिद्ध्यति, यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथा-कामचरो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवो ऽन्नाद् भूय इति' । अन्नाद् वाव भूयोऽस्तीति' । 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

अन्न बल से बढ़कर है [क्योंकि बल का कारण है] । इसलिये यदि कोई पुरुष दस दिन कुछ न खाए। तो वह [बलकी हानि होने से मरजाता है, और] यदि जीता भी रहे, तो वह देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने, और समझने के अयोग्य होता है । पर जब उसे अन्न प्राप्त होता है, तो वह देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने, और समझने वाला बन जाता है । सो तुम अन्न को उपासो ॥१॥

वह जो अन्न को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह प्रभूत अन्न और प्रभूत पान वाले लोकों को प्राप्त होता है, जहां तक अन्न की पहुंच है, वहां तक उसे कोई रोक नहीं होती—जो अन्न को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् ! अन्न से बढ़कर कोई वस्तु है '

'हां अन्न से बढ़कर है '

'भगवन् ! मुझे वह बताएं ' ॥ २ ॥

दसवां खण्ड

आपो वाअन्नाद् भूयस्यः । तस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति, व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीति । अथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीति । आप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वया ऽसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं मापएवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥ १ ॥ स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते, आप्नोति सर्वान् कामा ऽ स्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो ऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इति ' । 'अद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति' । 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥२॥

जल अन्न से बढ़कर है। इसलिये जब अच्छी वृष्टि नहीं होती, तो प्राण दु:खी होते हैं, कि अन्न [इसवर्ष] थोड़ा होगा । पर यदि अच्छी वृष्टि होती है, तो प्राण आनन्द मनाते हैं, कि [अब] अन्न बहुत होगा। जल ही यह भिन्न २ मूर्तियें* धारण किये हैं, जो यह पृथिवी है, जो अन्तरिक्ष है, जो द्यौ है, जो पर्वत हैं, जो देव और मनुष्य हैं, जो पशु और पक्षी हैं, तृण और वनस्पति हैं, और जो हिंस्र जन्तु हैं, कीट पतङ्ग और चींटी तक; जल ही यह भिन्न २ मूर्तियें धारण किये हैं। सो तुम जल को उपासो ॥ १ ॥

---

* यह सब कुछ जो मूर्त (ठोस) है, यह द्रवावस्था से इस अवस्था में आया है ॥

वह जो जल को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह सारी कामनाओं को प्राप्त होता है, तृप्तिवाला होता है, जहां तक जलों की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती—जो जलों को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन्! जल से बढ़कर कोई वस्तु है'

'हां जल से बढ़कर है'

'भगवन्! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

ग्यारहवां खण्ड

तेजो वा अद्भ्योभूयः । तद्वा एतद्वायुमुपगृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते । तदेतदूर्ध्वाभिश्चतिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति । तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वा ऽथापः सृजते । तेज उपास्स्वेति ॥१॥ स यस्तेजोब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति, यावत्तेजसोगतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्तिभगवस्तेजसोभूय इति'। 'तेजसो वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मेभगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

तेज जल से बढ़कर है । क्योंकि तेज वायु के साथ मिलकर आकाश को तपाता है । तब लोग कहते हैं, गर्म होरहा है, तपारहा

१, बरसेगा। सो तेज ही यह [अपने आप को] पहले दिखलाकर तब जलों को रचता है। तब फिर ऊपर और चारों तर्फ चमकती हुई बिजिलियों के साथ मेघकी गर्जनाएं प्रगट होती हैं, तब लोग कहते हैं 'चमकता है, गर्जता है, बरसे गा' सो यहां भी तेज ही [बिजली के रूप में] पहले अपने आप को दिखलाकर जलों को रचता है, सो तुम तेज को उपासो ॥ १ ॥

वह जो तेज को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह स्वयं तेजस्वी बनकर उनलोकों को प्राप्त होता है, जो तेजवाले हैं, प्रकाश से पूर्ण हैं, और [बाहर अन्दर के] अन्धेरे से रहित हैं। जहांतक तेजकी पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो तेज को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् ! तेजसे बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां, तेजसे बढ़कर है' ॥

'भगवन् ! वह मुझे बताएं' ॥

बारहवां खण्ड

आकाशो वै तेजसो भूयान् । आकाशे वै सूर्या चन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निः । आकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायते आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥ १ ॥ स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते, आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति । यावदाकाशस्यगतं तत्रास्य

यथाकामचारो भवति, य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगवआकाशाद्भूय इति'। 'आकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

आकाश तेज से बढ़कर है। क्योंकि सूर्य और चन्द्र बिजली और नक्षत्र और अग्नि आकाश में स्थित हैं। आकाश के द्वारा मनुष्य बुलाता है, आकाश के द्वारा सुनता है, आकाश के द्वारा प्रतिवचन देता है। आकाश में आनन्द भोगता है, [जब कोई किसी से मिलता है] और आकाश में आनन्द नहीं भोगता [जब वियुक्त होता है]। आकाश में [अंकुर आदि] उत्पन्न होता है, और आकाश की ओर [अंकुर आदि] उत्पन्न होता है [न कि नीचे की ओर] सो तुम आकाश को उपासो ॥ १ ॥

वह जो आकाश को ब्रह्म के तौरपर उपासता है, वह आकाश और प्रकाशवाले लोकों प्राप्त होता है, जहां कोई दबाव और पीडा नहीं है, और जो खुले चौड़े हैं। जहां तक आकाश की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो आकाश को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन्! आकाश से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥
'हां, आकाश से बढ़कर है' ॥
'भगवन्! मुझे वह बताएं' २ ॥

तेरहवां खण्ड

स्मरो वा आकाशाद्भूयः। तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन् न विजानीरन्। यदा वाव तेस्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्न

।विजानीरन् । स्मरेण वै पुत्रान् विजानाति स्मरेण
शून्।स्मरमुपास्स्वेति॥१॥ स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते,
।वत् स्मरस्य गतं, तत्राऽस्य यथाकामचारो भवति,
ः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवः स्मराद्भूय
ति' । 'स्मराद् वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भगवान्
वीत्विति' ॥ २ ॥

मृति आकाश से बढ़कर है*इसलिये यदि किसी जगह बहुत से जन
ी बैठजाएं, पर वह [एक दूसरे की बात को] स्मरण न रक्खें, तो
ह कुछ नहीं सुनसक्ते, कुछ नहीं मान सक्ते, कुछ नहीं जानसक्ते।
ब वह स्मरण करसक्ते हैं, तब ही वह सुनसक्ते हैं, मान सक्ते हैं।
और जान सक्ते हैं। स्मृति के द्वारा ही पुत्रों को जानता है, स्मृति
े द्वारा पशुओं को [यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरे पशु हैं, यह पहचानता
है]। सो तुम स्मृति को उपासो ॥१॥

वह जो स्मृति को ब्रह्म के तौरपर उपासता है, जहां तक
स्मृति की पहुंच है, वहां तक उसके लिये कोई रोक नहीं होती, जो
स्मृति को ब्रह्म के तौरपर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन्! स्मृति से बढ़कर कोई वस्तु है'

'हां स्मृति से बढ़कर है'

'भगवन्! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

---

* मनुष्य के सारे व्यवहार शब्द के ऊपर निर्भर रखते हैं, शब्द आकाश का धर्म है, सो आकाश के अधीन हमारे सारे व्यवहार चलरहे हैं, पर शब्द सारे स्मृति के अधीन ही काम देते हैं, इस अभिप्राय से स्मृति आकाश से बढकर कही है। बिना स्मृति के हर एक वस्तु न होने के बराबर होती है, क्योंकि उनसे भोग स्मृति के द्वारा होता है, और स्मृति के बिना तो आकाशादि का होना भी नहीं जाना जासक्ता' [शंकराचार्य]

चौदहवां खण्ड

आशा वाव स्मराद्‌ भूयसी। आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते,कर्माणि कुरुते, पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छते, इमञ्च लोक ममुञ्चेच्छते, आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥ स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते, आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हाऽस्याऽऽशिषो भवन्ति, यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, य आशां ब्रह्मे त्युपास्ते । 'अस्ति भगव आशाया भूय इति'। 'आशाया वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

आशास्मृति से बढ़कर है * आशा से चमकी हुई स्मृति मन्त्रों को पढ़ती है, कर्म [यज्ञआदि] करती है, पुत्र और पशुओं की इच्छा करती है [उपाय के अनुष्ठान से इनको प्राप्त करना चाहती है] इसलोक और उसलोक को चाहती है। सो तुम आशाको उपासो। १।

वह जो आशा को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, आशा के द्वारा उसकी सारी कामनाएं समृद्ध [परिपूर्ण और बढ़कर] होती हैं; उसकी प्रार्थनाएं खाली नहीं जाती हैं; जहां तक आशा की पंहुच है, वहांतक इसकेलिये कोई रोक नहीं होती, जो आशा को ब्रह्मके तौरपर उपासता है ॥

* आशा हमें स्मर्तव्य का स्मरण कराती है, जिसकी आशा है, उसको और उसकी प्राप्ति के साधनों को हम बार २ स्मरण करते हैं, इसलिये आशा स्मरणका हेतु है ॥

'क्या है भगवन् ! आशा से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां आशा से बढ़कर है' ॥

'भगवन् ! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

पन्द्रहवां खण्ड

प्राणो वा आशाया भूयान् । यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं । प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति । प्राणोह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥ स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वा ऽऽचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चद् भृशमिव प्रत्याह । धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः । पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसि॥२॥अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिसंदहेन्नै-वैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥३॥ प्राणोह्येवैतानि सर्वाणि भवति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति । तञ्चेद् ब्रूयुरतिवाद्यसीति अतिवाद्यसीति ब्रूयान्नापन्हुवीत ॥४॥

प्राण * आशा से बढ़कर है। जैसे [रथ की] नाभि † में अरे पोए हुए होते हैं, इसप्रकार यह सब [नाम से लेकर आशापर्यन्त] इस प्राण में प्रोया हुआ है। प्राण प्राण से चलता है ‡ प्राण प्राण को देता है और प्राण के लिये देता है §। प्राण है पिता, प्राण है माता, प्राण है भ्राता, प्राण है बहिन, प्राण है आचार्य, प्राण है ब्राह्मण ॥ १ ॥

क्योंकि यदि कोई पुरुष पिता, माता, भाई, बहिन वा आचार्य को कुछ अनुचित सा कह देवे, तो लोग उसे कहते हैं, धिक्कार है तुझे! तूने पिता की हत्या की है, तूने माता की हत्या की है, तूने भाई की हत्या की है, तूने भगिनी की हत्या की है, तूने आचार्य की हत्या की है, तूने ब्राह्मण की हत्या की है ॥ २ ॥

पर जब उनके प्राण निकलगए हैं, तब चाहे कोई उनको इकट्ठा करके शूल से टुकडे२ करके भी जलादे, तब उसे कोई नहीं कहेगा, कि तूने पिता की हत्या की है, तूने माता की हत्या की है, तूने भाई

* प्राण से यहां अभिप्राय सांस नहीं, किन्तु समष्टिलिङ्गदेह, हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा से अभिप्राय है, इसी सूत्र में सब चर अचर प्रोया हुआ है। यही मुख्य प्राण है॥

† जैसे अरों में पहिये की धारा लगी होती है, और अरे नाभि में लगे होते हैं, इस प्रकार यह भूतमात्रा (शब्दादि और पृथिवी आदि विषय) प्रज्ञामात्राओं (शब्दादि के ज्ञान और ज्ञानके हेतु इन्द्रियों) में लगी हुई हैं, और प्रज्ञामात्राएं प्राण में लगी हुई हैं (शंकराचार्य)॥

‡ और सब कुछ इस प्राण के द्वारा चेष्टावाला होता है, पर प्राण स्वयं अपनी ही शक्ति से चेष्टा वाला है॥

§ प्राण के अधीन सब चराचर की स्थिति है,, इसलिये देनेवाला प्राण है जिसकेलिये देता है, वह प्राण है और जो कुछ दिया जाता है, वहप्राण है॥

की हत्या की है, तूने बहिन की हत्या की है, तूने आचार्य की हत्या की है, तूने ब्राह्मण की हत्या की है ॥ ३ ॥

[इसलिये] प्राण ही यह सब [पिता माताआदि, और सारा जङ्गम स्थावर] है *। जो इसप्रकार [पूर्वोक्तरीति से प्राण ही सबकुछ है] देखता है, इसप्रकार मानता है, इसप्रकार समझता है, वह अतिवादी † बनता है। उसे यदि लोग कहें, कि तू अतिवादी है, तो वह बेशक कहे, हां मैं अतिवादी हूं, वह इससे इन्कार नहीं करे ॥ ४ ॥

सोलहवां खण्ड

एष तु वा अतिवदति, यः सत्येनातिवदति । सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति । सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

‡ पर वस्तुतः अतिवादी वह है, जो सत्य [ब्रह्म] को सब से बढ़कर कहता है ॥

---

* पिता माता वही हैं, जबकि उनको अनुचित वचन कहने में पितृहत्या और मातृहत्या लगती है, जबतक कि उनमें प्राण है। और फिर वही पिता माता हैं, जब वह प्राण से वियुक्त हैं, तो उनको उलट पटल जलाने में भी मनुष्य हत्यारा नहीं होता, इसलिये वस्तुतः प्राण ही पिता माता है ॥

† अतिवादी, वह पुरुष जो किसी ऐसी वस्तु को प्रगट करे, जो उन सबसे परे की हो, जिनका वर्णन पहले आचुका हो । यहां प्राण को ब्रह्म कहने वाला उन सब से आगे बढ़कर कहता है, जो 'नाम ब्रह्म है' इससे आरम्भ करके 'आशाब्रह्म है,' तक पहुंचे हैं। मुण्डक ३। १। ४ में अतिवादी परब्रह्म के जाननेवाले के मुकाबिले में आया है ॥

‡ नारद ने आगे नहीं पूछा, कि कोई वस्तु प्राणसे बढ़कर है। वह प्राण को ब्रह्म कहने वाला अतिवादी (बढ़कर कहने वाला) है, सुनकर सन्तुष्ट होगया

'हे भगवन्! मैं सत्य से अतिवादी बनूं' आपकी [कृपा से मैं सत्य को जानकर वास्तव में अतिवादी बनना चाहता हूं] ॥

[सनत्कुमार] 'तब तुझे सत्य को जानने की इच्छा होनी चाहिये'

[नारद] 'हां हे भगवन्! मैं सत्य को जानना चाहता हूं' ॥

सत्तरहवां खण्ड

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति, नाविजानन् सत्यं वदति, विजानन्नेव सत्यं वदति । विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । विज्ञानं भगवो विजिज्ञासइति।१।

जब कोई पुरुष [सत्य को] समझता है, तब वह सत्य को कहता है, जो सत्य को समझता नहीं है, वह सत्य को नहीं बतलाता *। केवल वही, जो सत्य को जानता है, सत्य को बतलाता है। सो हमें विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'हे भगवन् मैं इस विज्ञान को जानना चाहता हूं' ॥१॥

अठारहवां खण्ड

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति । नामत्वा विजानाति । मत्वैव विजानाति । मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । 'मतिं भगवो विजिज्ञास' इति ॥ १ ॥

है, कि प्राण ही सब से बढ़कर (परब्रह्म) है । पर सनत्कुमार इस योग्य शिष्य को सच्चा अतिवादी बनानाचहते हुए और आगे (सत्य ब्रह्म पर) लेजाते हैं। इसलिये यह १६ से २६ खण्ड तक का उपदेश है॥

* क्योंकि अग्नि जिसको वह सत्य समझता है, वह अग्नि केवल तीन तत्त्वोंका मेल है (देखो ६।४) जो केवल विकाररूप नाममात्र है। इसीतरह वह तीनतत्त्व भी विकार रूप नाममात्र से भिन्न अनृत हैं, जो उनसे परे जानता है, वह असली सत्य को जानता है॥

जब कोई पुरुष मनन करता है, तब वह समझता है। वह जो मनन नहीं करता, नहीं समझता। केवल वही समझता है, जो मनन करता है। सो हमें मनन करने की जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'भगवन् मैं मनन को जानना चाहता हू' ॥ १ ॥

उन्नीसवां खण्ड

जब कोई पुरुष श्रद्धा रखता है, तब वह उसका मनन करता है वह जो श्रद्धा नही रखता, मनन नहीं करता। केवल वही, जो श्रद्धा रखता है, मनन करता हे। सो हमें श्रद्धाकी जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'भगवन् मैं श्रद्धा को जानना चाहता हू' ॥ १ ॥

बीसवां खण्ड

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धधाति। नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्धधाति। निस्तिष्ठन्नेव श्रद्धधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। 'निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति' ॥१॥

जब कोई पुरुष निष्ठावाला [गुरुसेवापरायण] होता है तब वह श्रद्धा वाला बनता है। वह जो निष्ठा वाला नहीं है, श्रद्धा वाला नहीं होता है, केवल वही जो श्रद्धा वाला है, निष्ठा वाला होता है। सो हमें निष्ठा की जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'भगवन् मैं निष्ठा को जानना चाहता हू' ॥ १ ॥

इक्कीसवां खण्ड

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। नाकृत्वा निस्तिष्ठति। कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। 'कृतिं भगवो विजिज्ञास इति' ॥ १ ॥

जब कोई पुरुष (अपने कर्त्तव्य * को) पूरा करता है, तब वह निष्ठावाला बनता है। वह जो अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता, निष्ठावाला नहीं बनता। केवल वही, जो अपने कर्त्तव्य को पूरा करता है, निष्ठावाला बनता है। सो हमें कर्त्तव्य की जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'हे भगवन्! मैं कर्त्तव्य को जानना चाहता हूं' ॥ १ ॥

बाईसवां खण्ड

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति।'सुखं भगवो विजिज्ञास इति' ॥ १ ॥

जब कोई पुरुष [अपने आपमें] सुख लाभ करता है, तब वह अपने कर्तव्य को पूरा करता है। वह जो [उससे] सुख लाभ नहीं करता, अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता। केवल वही, जो [उससे] सुख लाभ करता है, कर्तव्य को पूरा करता है। सो हमें सुख की ही जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'हे भगवन् मैं सुख को जानना चाहता हूं' ॥ १ ॥

तेईसवां खण्ड

'यो वै भूमा तत्सुखं। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति'। 'भूमानं भगवो विजिज्ञास इति' ॥ १ ॥

* विद्यार्थी के धर्म—इन्द्रियसंयम और चित्त की एकाग्रता आदि

जो भूमा [निरतिशय, बेहद] है, वह सुख है; अल्प [हद-वाले] में सुख नहीं है। केवल भूमा [बेहद] ही सुख है * सो हमें भूमा की ही जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'हे भगवन् मैं भूमा को जानना चाहता हूं'

चौबीसवां खण्ड

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति'। 'स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति' ॥ १ ॥ गोअश्वमिहमहिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति । नाहमेवं ब्रवीमि,ब्रवीमीति हो वाचान्योह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितइति।२।

---

* भूमा, बडा, अभिप्राय निरतिशय [बेहद] से है। अल्प= छोटा, अभिप्राय सातिशय [हदवाले] से है। जो वस्तु अल्प है, वह असली सुख का हेतु नहीं, क्योंकि अल्प वस्तु अधिक की तृष्णाका हेतु बनती है, और तृष्णा दुःख का बीज है। इसी लिये विषयसुख तृष्णा को बढ़ाकर उसका हेतु बनता है, और तृष्णा दुःखका बीज है। सो यह विषयसुख आपाततः [जाहरा] सुख प्रतीत होता है, परवस्तुतः दुःखका बीज होने से दुःखरूप ही है। हां वह भूमा ही है, जो केवल सुखरूप है, वहां तृष्णा का बनारहना असम्भव है, क्योंकि यह निरतिशय सुख है ॥

जहां पुरुष न कुछ और देखता है, न कुछ और सुनता है, न कुछ और जानता है, वह है भूमा। और जहां पुरुष कुछ और देखता है, और सुनता है, और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है, और जो अल्प है, वह मर्त्य [मरने वाला] है ॥

'हे भगवन्! भूमा किसमें प्रतिष्ठित [किस के आश्रय] है?' ॥२॥

अपनी महिमा में-या [या यूं कहो] किसी भी महिमा में नहीं ॥१॥ संसार में लोग गौ और घोड़े, हाथी और सोना, दास और स्त्री, क्षेत्र और घर इन को महिमा कहा करते हैं। मैं [भूमा को] ऐसा नहीं कहता, क्योंकि [ऐसा कहने में] दूसरा [मालिक] दूसरे [अपनी मलकीयत में] प्रतिष्ठित होता है, [पर भूमा अपने आप से भिन्न किसी वस्तु में प्रतिष्ठित नहीं है]। किन्तु उसने कहा, मैं कहताहूं कि—॥ २ ॥

पचीसवां खण्ड

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात स दक्षिणतः स उत्तरतः सएवेद ँ सर्वमिति। अथातोऽहङ्कारादेश एव अहमेवाधस्तादह मुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद ँ सर्वमिति ॥ १ ॥ अथात आत्मादेशएव-आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवद ँ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरा-

त्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः। स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषा ँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

वही [भूमा ही] नीचे है, ऊपर है, पीछे है, सामने है, दाएं है और बाएं है-वही यह सब कुछ है ॥

अब उस [भूमाका] अहङ्कारादेश (मैं हूं के तौर पर उपदेश) है-मैं ही नीचे हूं मैं ऊपर हूं, मैं पीछे हूं मैं सामने हूं, मैं दाएं हूं, मैं बाएं हूं, मैं ही यह सब कुछ हूं ॥ १ ॥

निचला [उस भूमाका] आत्मा देश [आत्मा के तौर पर उपदेश] है-आत्माही नीचे है, आत्मा ऊपर है, आत्मा पीछे है, आत्मा सामने है, आत्मा दाएं है, आत्मा बाएं है, आत्मा ही यह सब कुछ है ॥

वह जो इस प्रकार देखता हुआ, मनन करता हुआ और जानता हुआ आत्मा में प्रेमरखता है, आत्मा में खेलता है, आत्मा के साथ जोड़ा होता है, आत्मा में अनन्द भोगता है, वह स्वराट् [स्वतन्त्र अधिपति] बन जाता है, उस का सब लोकों में यथेच्छाचार होता है [अर्थात् वह सारे लोकों का मालिक होता है] ॥

पर वह जो इससे भिन्न प्रकार से जानते हैं, वह क्षय होने वाले लोकों में रहते हैं, और वहा उनपर दूसरे राज्य करते हैं, उनका सब लोकों में अकामचार होता है [स्वतन्त्रता नहीं होती] ॥२॥

छब्बीसवां खण्ड

तस्य हवा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मतः आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज अत्मतआप आत्मत आविर्भावतिरोभावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतःसंकल्पःआत्मतोमन आत्मत कर्माण्यात्मत एवेद ँ सर्वमिति ॥ १ ॥ तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् ।सर्वँ ह पश्यःपश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशइति । स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा, सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः । शतञ्चदशचैकश्च सहस्राणि च वि ँ शतिः। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः, त ँ स्कन्द इत्याचक्षते त ँ स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

जो इस प्रकार देखता है, मानता है, समझता है, उस के लिये आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, आत्मा * से आशा, आत्मा से स्मृति

* वह जो स्वाराज्य को प्राप्त है, उस के लिये सदात्म विज्ञान से पहले, प्राण से ले कर नाम तक [जिनपर ध्यान धरना बतलाया है] की उत्पत्ति और प्रलय आत्मा से भिन्न सत्से थे अब वह सदात्म विज्ञान होने पर स्वात्मा से ही होते हैं, वैसे ही और भी सारा व्यवहार विद्वान् के लिये आत्मा से ही होजाता है [शंकराचार्य]

त्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से
ाविर्भाव और तिरोभाव * [प्रगट होना और लय होना]
त्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान,
त्मा से चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से
णी, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म [यज्ञ
दि] —हां यह सब कुछ आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है ॥ १ ॥

इस पर यह श्लोक है, 'वह जो यह देखता है [कि यह सब
छ आत्मा से ही है] वह न मृत्यु को देखता है, न ही रोग को, न
दुःख को देखता है। वह जो यह देखता है, वह हरएक वस्तु को
खता है, और हरएक प्रकार से हरएक वस्तु को प्राप्त होता है ॥

वह एक प्रकार से है [सृष्टि से पूर्व] वह तीन प्रकार से होता
[तेज, जल, और अन्न=पृथिवी] वह पांच प्रकार से होता है,
सात प्रकार से होता है, वह नौ प्रकार से होता है, और फिर
ग्यारह प्रकार का बतलाया गया है, और सौ और दस, और
क और बीस हजार † है। जब मनुष्य का आहार ‡ शुद्ध होजाता है, तो

---

* पिछले खण्डों में प्राण आदि के मध्य में आविर्भाव और तिरोभाव
का वर्णन नहीं आया है। यहां उसका आना प्रगट करता है, कि या तो
उनमें से इसका वर्णन छुट गया है, या यहां आवश्यक समझकर
बढ़ा दिया गया है ॥

† यह सृष्टि के प्रभेद से पहले एक प्रकार से ही होता है, और एक
प्रकार का ही हुआ सृष्टिकाल में तीन आदि भेदों से अनन्त भेदों वाला
हो जाता है, और फिर संहारकाल में अपनी असली एक प्रकारता
को प्राप्त होता है। [शंकराचार्य] मिलाओ। मैत्रा० उप० १। २ ॥

‡ इन्द्रियों का आहार, शब्द आदि विषयों का भोग, यह जब राग
द्वेष मोहरूप दोषों से शुद्ध होता है ॥

उसका अन्तःकरण शुद्ध होजाता है। और जब अन्तःकरण शुद्ध होजाता है, तो स्मृति अटल होजाती है। और जब [भूमा आत्मा की] स्मृति पक्की हो जाती है, तब सारी गांठें खुल जाती हैं ॥

सो इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने नारद को अन्धकार का परला किनारा दिखला दिया, जब इस के [राग, द्वेष आदि] मैल पहले मलदिये गए। उसको (सनत्कुमार को) लोग स्कन्द कहते हैं, हां उसको स्कन्द कहते हैं * ॥ २॥

ओम्

आठवां प्रपाठक † पहला खण्ड

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥ तञ्चेद्ब्रूयुः ' यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरो ऽस्मिन्नन्तराकाशः, किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥२॥ स ब्रूयाद् ' यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा-

---

* दो बार पाठ प्रपाठक की समाप्तिके लिये है ॥

† ब्रह्म एक अद्वितीयहै और दिशा और कालकी सीमा सेपरे है, यह छटे और सातवें प्रपाठक में वर्णन किया है। अब इस आठवें प्रपाठक में, उसकी प्राप्ति का स्थान-हृदय, उसकी प्राप्ति का उपाय-ब्रह्मचर्य आदि, उपासना का फल, और आत्मा के परमार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं।

पृथिवी अन्तरेव समाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्या चन्द्रमसावुभौ । विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति' ॥३॥ तञ्चेद् ब्रूयुः 'अस्मि ँ श्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्व ँ समाहित ँ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्व ँ सते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति' ॥ ४ ॥ सब्रूयात् 'नाऽस्यजरयैतज्जीर्यति न वधेनास्यहन्यते, एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः । एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्य-कामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथाऽनुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जन-पदं यं क्षेत्रभागं तंतमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥ तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते । तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येता ँ श्च सत्यान् कामा ँ स्तेषा ँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येता ँ श्चसत्यान् कामा ँ स्तेषा ँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

यह जो ब्रह्मपुर [ब्रह्म का पुर=शरीर] है, इस में एक छोटा सा [हृदय] कमल का मन्दिर है. इस [मन्दिर] के अन्दर एक छोटा स आकाश [ब्रह्म] है । अब उस [छोटे आकाश] के अन्दर जो कुछ है, उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये ॥ १ ॥

और यदि उसे कहें 'यह जो ब्रह्म का पुर है, छोटा सा इस में कमलका मन्दिर, और छोटा सा इस [हृदय कमल] के अन्दर आकाश, अब इस के अन्दर वह क्या है, जिसका अन्वेषण करना चाहिये, जिस की जिज्ञासा करनी चाहिये * ॥ २ ॥

तब वह कहे 'जितना बड़ा यह [बाहरका] आकाश है, उतना बड़ा यह हृदय के अन्दर [का] आकाश है । दोनों इस में अन्दर ही द्यौ और पृथिवी समाए हुए हैं; अग्नि और वायु दोनों; सूर्य और चन्द्र दोनों; बिजलियें और नक्षत्र; और जो कुछ इस [आत्मा] का इस लोक में है, और जो नहीं है [अर्थात जो कुछ हो चुका है वा होगा] वह सब इस में समाया हुआ है † ॥ ३ ॥

और यदि उसे कहें 'इस ब्रह्मपुर में यदि यह सब कुछ समाया हुआ है, सारे भूत और सारी कामनाएं [काम्यवस्तुएं, समाई हुई हैं]

---

*छोटा सा तो हृदय, उसके अन्दर फिर और भी छोटा सा आकाश, अब उस छोटे से के अन्दर भला क्या होगा, जिसको ढूंढना चाहिये, और यदि कुछ ऐसमात्र वहां ढूंढने से मिलभी गया, तो उससे ढूंढने वाले का क्या बन जाएगा, जिसके लिये इतने गौरव के साथ उपदेश दिया जारहा है, उस के अन्दर जोकुछ है, उसे ढूंढो, उसकी जिज्ञासा करो ।

†हृदय के अन्दर के आकाश से ब्रह्म अभिप्राय है, इसलिये हृदय के अन्दर छोटा सा आकाश कहने से यह अभिप्राय नहीं, कि बस वह हृदय के अन्दर सारा समाया हुआ है, प्रत्युत न केवल हृदय, अपितु यह सारा ब्रह्माण्ड उसके अन्दर समाया हुआ है। जो यह हृदय में आ ज्ञान में, यह छोटा सा नहीं, किन्तु इतना बड़ा है, जितना बाह्य आकाश, किन्तु यह यह स्वच्छ विज्ञान ज्योति:स्वरूपसे हृदय में उतना साथ साक्षात् होता है, इसलिये छोटा सा कहा है। यहां बाह्य आकाश की उपमा भी बड़ा समझाने में है, वस्तुतः आकाश भी उसके अन्दर है ।

तो जब इसे बुढ़ापा आघेरता है, वा यह टुकड़े २ होजाता है, तब फिर क्या [इसका] पीछे बच रहता है ? ॥ ४ ॥

तब वह कहे 'इस [शरीर] के बुढ़ापे से वह [आकाश, हृदयाकाशस्थब्रह्म] बूढ़ा नहीं होता, और न इस के मृत्यु से यह मरता है, यह [ब्रह्म] है सच्चा ब्रह्मपुर [नकि शरीर]। इसमें सारी कामनाएं समाई हुई हैं। यह आत्मा है जो सारे पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से परे है शोक से परे है भूख और प्यास से परे है, वह सच्ची कामनाओं वाला और सच्चे संकल्पों वाला है। जैसे यहां प्रजाएं [जिन पर दूसरा स्वामी है, उस स्वामी के] शासन (हुक्म) के अनुसार चलती हैं, और जिस २ भाग से उनका प्यार (हठ) हो, चाहे वह कोई देश हो, या क्षेत्र का टुकड़ा, वह उस २ का ही उपभोग करती है ॥ ५ ॥

और जैसे यहां कर्म [खेती आदि या सेवा आदि] से इस लोक जीता गया है [फल प्राप्त हुआ है] वह क्षीण हो जाता और ऐसे ही परलोक में भी वह फल क्षीण होजाता है, जो यहां पुण्यकर्मों के पूरा करने से जीता गया है। तब वह पुरुष जो इस आत्मा को और इन सच्ची कामनाओं को ढूंढे बिना ही इस लोक से चल देते हैं, उन के लिये सारे लोकों में कोई स्वतन्त्रता नहीं है। पर वह जो उस आत्मा को और इन सच्ची कामनाओं को पा करके इस लोक से चलते हैं, उनके लिये सब लोको में स्वतन्त्रता है ॥६॥

* जो स्वाराज्य की कामना वाले हैं, उन के लिये इस आत्मा का जानना आवश्यक है, क्योंकि केवल कर्म का फल थोड़ा और नाश होने वाला है, और उस में भी उन के लिये स्वतन्त्रता नहीं है। इस ज्ञान का फल स्वाराज्य है, स्वतन्त्रता है, यह इस द्वारा [illegible]।

दूसरा खण्ड

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरःसमुत्तिष्ठन्ति, तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते।१। अथ यदि मातृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते।२ अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य भ्रातरःसमुत्तिष्ठन्ति, तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नोमहीयते।३। अथ यदि स्वसृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ४ ॥ अथ यदि सखिलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥५॥ अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतः, तेन गन्धमाल्य लोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ६ ॥ अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतः तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥७॥ अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतः तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥८॥ अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो

महीयते ॥ ९ ॥ यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामयते सो ऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयते ॥ १० ॥

* वह यदि पितृलोक † की कामना वाला होता है, तो इस के संकल्पमात्र से पितर उसके सामने प्रगट होते हैं, और वह पितृलोक से सम्पन्न हुआ [पितृलोक की सम्पत्ति लाभ करके] आनन्द भोगता है ‡ ॥ १ ॥

और यदि वह मातृलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से माताएं उसके सामने प्रगट होती हैं, और वह मातृलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है। और यदि वह भ्रातृलोक की कामना वाला होता है, तो इस के संकल्पमात्र से भाई प्रगट होते हैं, और वह भ्रातृलोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

और यदि वह भगिनीलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से बहिनें इसके सामने प्रगट होती हैं, और वह भगिनीलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ४ ॥

और यदि वह मित्रलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से मित्र प्रगट होते हैं, और वह मित्रलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ५ ॥

---

* किस तरह सब लोकों में उसकी व्यवस्था होती है, यह वर्णन करते हैं ॥

† लोक यह है, जिसमें रहकर, या जिन साधनों के साथ, हम अपनी कमाई का फल भोगते हैं। यहां पितृलोक से तात्पर्य पितरों के सद्भाव और उनके साथ आनन्द भोगने से है ॥

‡ महीयते = महिमावाला होता है, अपनी महिमा को अनुभव करता है, आनन्द भोगता है ॥

विन्दन्ति तेषामेवैषब्रह्मलोकस्तेषा ँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

यह आत्मा है यह एक सेतु * (पुल) है, एक हद है, जिससे कि यह लोक गड़बड़ा न जाएं † दिन और रात इस सेतु को नहीं उलांघते, न जरा; न मृत्यु, न शोक, न पुण्य न पाप॥१॥ सारे पाप इस से वापिस लौटते हैं क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापसे पृथक् (बरी) है। इस लिये वह जो इस सेतु से पार होता है वह यदि अन्धा है, तो अनन्ध होजाता है, बींधाहुआ (ज़ख्मी) है, तो अविद्ध (नज़ख्मी) होजाता है, रोगी है, तो अरोगी होजाता है । इस लिये जब पुरुष इस सेतु से पार होता है, तो रात भी दिनही बन जाती है (अन्धेरा सारा दूर हो जाता है) क्योंकि यह ब्रह्मलोक एकबारही (सदा के लिये) चमका हुआ है ॥ २ ॥

यह ब्रह्मलोक केवल उन्हीं लोगों का है, जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ढूंढते हैं; उन्हीं की सब लोकों में स्वतन्त्रता होती है ॥ ३ ॥

पांचवां खण्ड

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते । अथ यदिष्टमित्याचक्षते

---

* सेतु का अर्थ पुल है। पुल पानी या कीचड़ पर से पार होने का मार्ग होता है। यह मर्यादा के बन्ध भिन्न २ लोकों के रस्तों की हद का काम भी देते हैं। मिलाओ० मैत्रा०उप० ७।७। कठ०उप० ३। २; मुण्डक०उप० २।२।५

† इसी की आज्ञा में यह सारा जगत् अपनी २ मर्यादा में काम कररहा है

ब्रह्मचर्य मेवतद,ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मान मनुविन्दते।१ अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् , ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मानस्त्राणं विन्दते। अथ यन्मौन मित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् , ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मान मनुविद्य मनुते ॥२॥ अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तद्, एष ह्यात्मा न नश्यति, यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते। अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तद्, अरश्च हवै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीय स्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमित ॅ हिरण्मयम् ॥३॥ तद्य एवैतावरं चण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा ॅ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।४।

जिसको (धार्मिकलोग) यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, वह जो जानने वाला है, उसको (ब्रह्म लोकको) पालेता है॥

और जिसको इष्ट कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह ढूढ करके(इष्ट्वा) आत्मा को पालेता है॥१॥

और जिसको लोग सत्रायण कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह सत (सत्यब्रह्म) से आत्मा की रक्षा (त्राण) को पाता है॥

विन्दन्ति तेषामेवैषब्रह्मलोकस्तेषा ँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

यह आत्मा है यह एक सेतु * (पुल) है, एक हद है, जिससे कि यह लोक गड़बड़ा न जाएं † दिन और रात इस सेतु को नहीं उलांघते, न जरा; न मृत्यु, न शोक, न पुण्य न पाप ॥१॥ सारे पाप इस से वापिस लौटते हैं क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापसे पृथक् (बरी) है। इस लिये वह जो इस सेतु से पार होता है वह यदि अन्धा है, तो अनन्ध होजाता है, बींधाहुआ (ज़ख्मी) है, तो अविद्ध (नज़ख्मी) होजाता है, रोगी है, तो अरोगी होजाता है। इस लिये जब पुरुष इस सेतु से पार होता है, तो रात भी दिनही बन जाती है (अन्धेरा सारा दूर हो जाता है) क्योंकि यह ब्रह्मलोक एकवारही (सदा के लिये) चमका हुआ है ॥ २ ॥

यह ब्रह्मलोक केवल उन्हीं लोगों का है, जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ढूंढते हैं; उन्हीं की सब लोकों में स्वतन्त्रता होती है ॥ ३ ॥

पांचवां खण्ड

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते। अथ यदिष्टमित्याचक्षते

* सेतु का अर्थ पुल है। पुल पानी या कीचड़ पर से पार होने का मार्ग होता है। यह मट्टी के बन्ध भिन्न २ लोगों के खेतों की हद का कामभी देते हैं। मिलाओ० मैत्रा०उप० ७। ७। कठ०उप० ३। २; मुण्ड०उप० २। २। ५

† इसी की आज्ञा में यह सारा जगत् अपनी २ मर्यादा में काम कररहा है

ब्रह्मचर्यमेवतद्,ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मान मनुविन्दते।१ अथ यत् सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मानस्त्राणं विन्दते। अथ यन्मौन मित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मान मनुविद्य मनुते ॥२॥ अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तद्, एष ह्यात्मा न नश्यति, यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते। अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तद्, अरश्च हवै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीय स्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम् ॥३॥ तद्य एवैतावरं चण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।४।

जिसको (धार्मिकलोग) यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, वह जो जानने वाला है, उसको (ब्रह्म लोकको) पालेता है॥

और जिसको इष्ट कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह ढूढ करके(इष्ट्वा) आत्मा को पालेता है॥१॥

और जिसको लोग सत्त्रायण कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह सत (सत्यब्रह्म) से आत्मा की रक्षा (त्राण) को पाता है॥

और यदि वह गन्धमाल्य (गन्ध और माला के) लोककी कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से गन्ध और माला प्रगट होती हैं, और वह गन्धमाल्यलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥६॥

और यदि वह अन्नपान (अन्न और पान के) लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से अन्न और पान प्रगट होता है, और वह अन्नपानलोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

और यदि वह गीतवादित्र [गीत और बाजे के) लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से गीत और बाजे प्रगट होते हैं, और वह गीतवादित्रलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ८ ॥

और यदि वह स्त्रीलोक की कामना वाला होता है, तो इस के संकल्पमात्र से स्त्रियें प्रगट होती हैं और वह स्त्रीलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ९ ॥

निदान जिस २ विषय को वह प्यार करता है, जिस को चाहता है, वह इस के संकल्पमात्र से प्रगट होता है, और वह उस से सम्पन्न हो कर आनन्द भोगता है ॥ १० ॥

तीसरा खण्ड

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानाः तेषा ᳚ सत्याना ᳚ सतामनृतमपिधानम् । यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥ अथ ये चास्येह-जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते, सर्वं तदत्र गत्वा

विन्दते । अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः । तद् यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः । २ । स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति, तस्माद्धृदयम्, अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गमलोकमेति । ३ । अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच, एतदेवामृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति । ४ । तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति । तद्यत् सत् तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद् यं तेनोभे यच्छति, यदनेनोभे यच्छति तस्माद् यम् । अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

सो यह सभी कामनाएं झूठ से ढकी हुई हैं; अर्थात् यद्यपि यह कामनाएं सत्य हैं, पर इन पर यह एक ढकना है जो झूठ है। जो २ कोई इस (पुरुष) का यहां से चलबसा है, उसको फिर यहां (इन आंखों से) देखने के लिये यह नहीं पासकता ॥ १ ॥

पर जो इस के यहां जीवित हैं, जो मर चुके हैं, और जो कुछ और भी है जिसको यह चाहता है, पर पा नहीं सका, उस सब को यहां (हृदयस्थ ब्रह्म में) पहुंच कर पालेता है, (यदि वह अपने हृदय

में उतरे, जहां हृदयाकाश में ब्रह्म रहता है) । क्योंकि यहां (हृदयस्थ ब्रह्म में) इसकी सच्ची कामनाएं हैं, जो झूठ से ढकी हुई हैं * जैसाकि दबे हुए सोने के निधि (खजाने) के ऊपर २ घूमते हुए भी वह लोग जो क्षेत्रज्ञ (क्षेत्रविद्या के वेत्ता) नहीं हैं; वह उसे नहीं पासक्ते, इसी प्रकार यह सारी प्रजाएं (जन्तु) दिन प्रति दिन ब्रह्मलोक में जाती हैं (सुषुप्ति में हृदयस्थब्रह्म में लीनहोती हैं) तथापि वह उसे नहीं ढूंढपातीं; क्योंकि वह झूठ से चलाई जा रही हैं, [अर्थात्झूठने उनको अपने स्वरूप से हटाकर बाहर के विषयों में फैंका हुआ है] ॥ २ ॥

यह आत्मा हृदय में है, इसका यही निर्वचन है 'हृदि+अयम्' † अर्थात् हृदय में यह (आत्मा) है, इस लिये यह हृदय कहा जाता है । वह जो इस प्रकार (हृदय में आत्मा है, इस लिये यह हृदय कहलाता है) जानता है, वह प्रतिदिन (सुषुप्तिमें) स्वर्ग लोक (हृदयस्थ ब्रह्म) में जाता है ॥ ३ ॥

---

* सच्ची कामनाएं, जिनका पहले और दूसरे खण्ड में वर्णन है, वह हर एक के हृदय के अन्दर सदा विद्यमान हैं, उन कामनाओं को हरएक पुरुष इस लिये नहीं पासक्ता, कि उनके ऊपर एक परदा पड़ा हुआ है, और वह परदा झूठका है अर्थात् बाहर के विषयों में तृष्णा और उसके परवश होकर स्वेच्छाचारी होना (नकि शास्त्र की मर्यादा में रहना] यह कामनाएं मिथ्याज्ञान से होती हैं, इसलिये झूठी हैं। जब यह झूठका परदा उठ जाता है, तो वह सच्ची कामनाएं प्रकाशित होती हैं ॥

† हृद् अर्थात् हृदय और 'अयम्' अर्थात् यह अर्थात् आत्मा। सो 'हृद्+अयम=हृदयम्' है। इसमें आत्मा रहता है, इस लिये इसे हृदय कहते हैं ॥

अब यह पूरा निर्मल हुआ * (आत्मा) इस (भौतिक) शरीर से उठकर (शरीर में आत्मभावना को त्यागकर) और परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने असली रूप से प्रगट होता है, यह आत्मा है, यह उसने कहा (जब उसे शिष्यों ने पूछा) । यह अमृत है, यह अभय है यह ब्रह्म है । इस ब्रह्म का नाम है सत्य । ४ । इस नाम (सत्य) के तीन अक्षर हैं सत्-ति-य + । जो 'सत्' है वह अमृत है, और जो 'त्' है वह मर्त्य है, और जो 'य' है, इस से वह दोनों को नियम में रखता है । जिस लिये इस से वह दोनों को नियम में रखता है (यच्छति) इसलिये उसे 'य' कहते हैं । वह जो इस प्रकार जानता है, वह दिन प्रतिदिन स्वर्ग लोक (ब्रह्म) को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

चौथा खण्ड

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम सम्भेदाय । नैत ᳪ सेतुमहोरात्रे तरतो नजरा न मृत्युर्नशोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ॥ १ ॥ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः । तस्माद्वा एत ᳪ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति । तस्माद्वा एत ᳪ सेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते । सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानु

---

* मिलाओ छान्दो० ८ । १२ ।

+ [illegible] 'त्र' [illegible] मिलाओ० बृ० ५ । ५ । १; पत० [illegible]

विन्दन्ति तेषामेवैषब्रह्मलोकस्तेषा ँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

यह आत्मा है यह एक सेतु * (पुल) है, एक हद है, जिससे कि यह लोक गड़बड़ा न जाएं † दिन और रात इस सेतु को नहीं उल्लांघते, न जरा; न मृत्यु, न शोक, न पुण्य न पाप॥१॥ सारे पाप इस से वापिस लौटते हैं क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापसे पृथक् (वरी) है। इस लिये वह जो इस सेतु से पार होता है वह यदि अन्धा है, तो अनन्ध होजाता है, वींधाहुआ (ज़ख्मी) है, तो अविद्ध (नज़ख्मी) होजाता है, रोगी है, तो अरोगी होजाता है। इस लिये जब पुरुष इस सेतु से पार होता है, तो रात भी दिनही बन जाती है (अन्धेरा सारा दूर हो जाता है) क्योंकि यह ब्रह्मलोक एकवारही (सदा के लिये) चमका हुआ है ॥ २ ॥

यह ब्रह्मलोक केवल उन्ही लोगों का है, जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचार्य से ढूंढते हैं; उन्हीं की सब लोकों में स्वतन्त्रता होती है ॥ ३ ॥

पांचवां खण्ड

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते। अथ यदिष्टमित्याचक्षते

* सेतु का अर्थ पुल है। पुल पानी या कीचड़ पर से पार होने का मार्ग होता है। यह मट्टी के बन्ध भिन्न २ लोगों के खेतों की हद का कामभी देते हैं। मिलाओ० मैत्रा०उप० ७।७। कठ०उप० ३। २: मुण्ड०उप० २।२।५

† इसी की आज्ञा में यह सारा जगत्-अपनी २ मर्यादा में काम कररहा है

ब्रह्मचर्य मेवतद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मान मनुविन्दते। १
अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मानस्त्राणं विन्दते। अथ यन्मौन मित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मान मनुविद्य मनुते ॥२॥ अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तद्, एष ह्यात्मा न नश्यति, यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते। अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तद्, अरश्च हवै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीय स्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम् ॥३॥ तद्य एवैतावरं चण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।४।

जिसको (धार्मिकलोग) यज्ञ कहते है, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, वह जो जानने वाला है, उसको (ब्रह्म लोकको) पालेता है ॥

और जिसको इष्ट कहते है, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह ढूंढ करके (इष्ट्वा) आत्मा को पालेता है॥१॥

और जिसको लोग सत्रायण कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ; क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह सद (सत्यब्रह्म) से आत्मा की क्षा (त्राण) को पाता है ॥

और जिसको लोग मौन कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पुरुष आत्मा को ढूंढ करके उस पर ध्यान जमाता है [मनुते] ॥ २ ॥

और जिसको लोग अनाशकायन कहते है, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि यह आत्मा (अपना आप) नष्ट नही होता (न नश्यति) जिसको पुरुष ब्रह्मचर्य के द्वारा ढूढपाता हे ॥

और जिसको लोग अरण्यायन (जंगल में चलेजाना, वानप्रस्थ) कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि अर और ण्य यह दो समुद्र (सरोवर) ब्रह्मलोक में है अर्थात् यहा से तीसरे द्यौ में, और एक ऐरंमदीय सर है, और एक अश्वत्थ वृक्ष है, जिससे सोम वहता है, और (हिरण्यगर्भ) का अपराजिता एक पुर है और एक सुनहरी प्रभुविमित (प्रभु अर्थात् ब्रह्मा से वनाया हुआ मण्डप) है ॥ ३ ॥

अब वह लोग जो ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक में वर्तमान अर और ण्य इन दो समुद्रों को ढूढपाते हैं, यह ब्रह्मलोक उन्ही लोगों का है, उन के लिये सब लोकों में स्वतन्त्रता है* ॥ ४ ॥

---

* चौथे खण्ड में ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन ब्रह्मचर्य वर्णन किया है, इस पाचवें खण्ड में उसकी महिमा दिखलाई है। यह दर्शाया गया है, कि वैदिक कर्म जो मनुष्य के अन्तःकरण को पवित्र बनाते हैं, और जिनका परम फल ब्रह्मलोक है, ब्रह्मचर्य उन सब की जगह अकेला पूरी कर देता है। यज्ञ ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्यवाला फल को ब्रह्मचर्य के द्वारा लाभ कर लेता है, जिसको; पुरुष यज्ञ द्वारा लाभ करता है। यज्ञ का परम फल ब्रह्मलोक है, और यह फल ब्रह्मचर्य से प्राप्त हो जाता है। इस लिये यज्ञ भी ब्रह्मचर्य ही है इसी प्रकार इष्ट और सत्रायण आदि के विषय में भी जानना चाहिये।

छटा खण्ड

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणि म्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति । असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥ तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमंचामुंच, एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ

पर जहां वस्तुतः ब्रह्मचर्य, फल के द्वारा यज्ञ आदि के बराबर है, वहां दूसरी ओर यहां शब्दों की बनावट से भी ब्रह्मचर्य को उन के बराबर दर्शाया है । जैसे यज्ञ ब्रह्मचर्य है, क्योंकि 'यो ज्ञाता=जो जानने वाला है' से यज्ञ बना है । जो जानने वाला है, वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इस लिये ब्रह्मचर्य यज्ञ है । इसी प्रकार 'इष्ट' 'इष्टा = ढूंढकरके' से; सत्रायण; सत + त्राणम् = सत् से अपनी रक्षा', से; 'मौन' 'मनुते = ध्यान जमाता है' से, 'अनाशकायन' न नश्यति=नष्ट नहीं होता है' से, और अरण्यायन, ' अर + ण्य + अयनम् = अर और ण्य को प्राप्त होना' से है । इष्ट, यज्ञ विशेष है, सत्रायण, वह यज्ञ, जिनमें बहुत यजमान होते हैं । मौन, वाणी का रोकना । अरण्यायन, बनमें जाना, वानप्रस्थका जीवन । इन सब का फल ब्रह्मचर्य से मिलजाता है, इसलिये ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करना चाहिये ॥

'पूर्वदूसरे खण्ड में जो पिता माता आदि कहे हैं, और यहां पांचवें खण्ड में जो ब्रह्मलोक में अर, ण्य दो समुद्र ऐरमदीय (ऐरं=अन्न से पूर्ण और मदीय = हर्ष देनेवाला) सर, अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष, जिससे सोमरस वा अमृत बहता है, अपराजिता (जिस को वह लोग नहीं जीत सके, जिनके पास ब्रह्मचर्यका साधन नहीं) पुरी, और सुनहरी मण्डप । यह सब ब्रह्मलोक में मानसरूप से प्रतीत होते हैं, न कि स्थूल रूप से । और शुद्ध हुए अन्तःकरण के संकल्प से प्रगट होते हैं, इसलिये निरतिशय सुख कारक होते हैं, (शंकराचार्य)

लौकौ गच्छतीमं चामुंच। अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥ तद् यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तोभवति, तं नकश्चन पाप्मास्पृशति, तेजसाहि तदा सम्पन्नो भवति॥ ३॥ अथयत्रैतदबलिमानंनीतोभवति, तमभित आसीना आहुः 'जानासि मां, जनासि मामिति'। सयावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४॥ अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मभि रूर्ध्वमाक्रमते। स ओमिति वाहोद्वामीयते। स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यंगच्छति। एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्॥ ५ ॥ तदेषश्लोकः 'शतञ्चैका च हृदस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणेभवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

* अब यह जो हृदय की नाडियें हैं, भूरे सूक्ष्म [रस] की भरी

---

* बाह्य विषयों की तृष्णा को त्यागकर और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न होकर जो पुरुष हृदय कमल में स्थित ब्रह्म की उपासना करता है अन्त समय में ओम् पर ध्यान धरता हुआ मूर्धा की नाड़ी से ब्रह्मलोक को जाता है, यह इसमें दिखलाते हैं॥

हुई हैं, तथा श्वेत, नीले, पीले और लाल की [भरीहुई है] और ऐसे ही वह सूर्य भूरा है, श्वेत है, नीला है, पीला है और लाल है ॥ १ ॥

जैसे एक लम्बी चौडी सडक दो गाओं को जाती है, इधर इस [गाओं] को और उधर उस [गाओं] को, इसी प्रकार यह सूर्य की किरणें दोनों लोकों को जाती हैं, इधर इस लोक [लोक=शरीर] को और उधर उस [लोक=सूर्य] को। वह उस सूर्य से चलती हैं और इन नाडियों में आकर प्रवेश करती हैं; इन नाडियों से चलती हैं और सूर्य में जाकर प्रवेश करती हैं ॥ २ ॥

और जब कोई पुरुष सोया हुआ आराम करता हुआ [बाह्यविषयों के ग्रहण से निवृत्त हुआ] और पूरानिर्मल हुआ [अपने स्वरूप से जो कुछ बाहर है, उससे बेखबर हुआ] स्वप्न को नहीं देखता है [सुषिप्ति में होता है], तब वह इन नाडियों में प्रविष्टहुआ होता है। तब उसे कोई बुराई नहीं छूसक्ती, क्योंकि वह उससमय [सूर्य के] तेज से [जो नाडियों में है] व्याप्त होता है ॥ ३ ॥

और जब कोई पुरुष पूरीनिर्बलता में [मरने के निकट] पहुंच जाता है, तब उसके इधर उधर बैठेहुए (बन्धु बान्धव) उसे कहते हैं 'क्या तुम मुझे जानतेहो, क्या तुम मुझे जानते हो ?' वह जब तक इस शरीर से निकल नहीं जाता है, तबतक उनको जानता है ॥ ४ ॥

पर जब यह इस शरीर से निकलजाता है, तब वह इन्हीं रश्मियों के द्वारा [जो सूर्य से नाडियों तकफैलीहुई है] ऊपर चढता है [उनफलों को भोगने के लिये, जो उसने कर्मद्वारा सम्पादन किये हैं, न कि ज्ञान द्वारा] । अथवा ओम् पर ध्यान जमाताहुआ जाता है, [जब उसने ब्रह्मलोक को जाना होता है, जो उसने ज्ञानद्वारा जीता

है] । वह जितनी देर में मन फैंकाजाता है, उतनी देर में सूर्य में पहुंचजाता है । क्योंकि यह [सूर्य] [ब्रह्म]लोक का द्वार है, ज्ञानियों के लिये यह खुला है, और अज्ञानियों के लिये बंद है ॥ ५ ॥

इस पर यह श्लोक है 'एकसौ एक हृदय की नाड़ियें हैं, उनमें से एक मूर्धा की ओर निकली है, उस नाड़ी से ऊपर चढ़ता हुआ [ज्ञानी] अमृतत्व को प्राप्त होता है; दूसरी [नाड़ियें] निकलने में भिन्न२ गति [देने] वाली होती हैं *, हां, निकलने में [भिन्न २ गति देनेवाली] होती हैं ॥ ६ ॥

सातवां खण्ड

'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वा ँ श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ श्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति' ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥ तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे । ते होचुः 'हन्ततमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वा ँ श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ श्च कामानिति'। इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज, विरोचनोऽसुराणां । तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥ तौ ह द्वात्रि ँ शतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ

* देखो कठ०उप०६ । ६, और मिलाओ प्रश्न०उप० ३ । ६-७ ॥

ह प्रजापतिरुवाच 'किमिच्छन्तावत्रवास्तमिति'। तौ हो चतुः 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजिरो विमृत्युर्विशोको ऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वे ष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँ श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ श्च कामान् यस्तमात्मान मनुविद्य विजानातीति' भगवतो वचो वेदयन्ते, तमिच्छन्तावत्रवास्तमिति' ॥३॥ तौह प्रजापति रुवाच 'य एषो ऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति' होवाच। 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति'। अथ 'योऽयं भगवो ऽप्सु परिख्यायते, यश्चाय मादर्शे कतम एष इति' 'एष उ एवैषु सर्वेषुष्वेतेषु परिख्यायत इति' होवाच। ४।

*प्रजापति ने कहा 'आत्मा जो कि पाप से अलग है; जरा और मृत्यु से परे है, शोक से परे है; भूख और प्यास से अलग है, सच्ची कामनाओं वाला है और सच्चे संकल्पों वाला है। उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये। वह जो इस आत्मा को ढूंढ कर जान लेता है, वह सारे लोकों को और सारी कामनाओं को पालेता है'। १।

देवता और दैत्य दोनोंने यह शब्द सुने, और उन्होंने कहा 'अहो। हमें उस आत्मा का अन्वेषण (तलाश) करनाचाहिये,

*स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से अलग आत्मा का स्वस्वरूप (शुद्ध स्वरूप) दिखलाने के लिये प्रजापति का उपदेश आरम्भ करते हैं

जिस आत्मा को ढूंढकर पुरुष सारे लोकोंको और सारी कामनाओं को पालेता है' यह कहकर इन्द्र देवताओं में से और विरोचन असुरों में से गया। वह दोनों विना एक दूसरे से सलाह किये (शिष्य के तौर पर) समिधा हाथ मेंलिये प्रजापति के पास आए।२।

वह वहां बत्तीस वरस ब्रह्मचारी बनकर रहे। तब प्रजापति ने उन्हें कहा'तुम दोनों किस प्रयोजनसे यहां रहेहो' उन दोनोंने उत्तर दिया 'आपके इस वचन का दुनियामें ढंढोरा फिर रहा है, 'कि आत्मा जो कि पाप से अलग है, जरा और मृत्यु से परे है, शोक से परे है भूख और प्यास से अलग है, सच्ची कामनाओं वाला है और सच्चे संकल्पों वाला है, उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये। वह जो इस आत्मा को ढूंढकर जानलेता है, वह सारे लोकों को और सारी कामनाओं को पालेता है' सो हम दोनों उस (आत्मा) को चाहते हुए आपके पास रहे हैं ॥ ३ ॥

प्रजापति ने उन दोनों को कहा'यह जो आंखमें पुरुष दीखता है,*यह वह आत्मा है, यह है जो मैंने कहा था, यह अमृत है, यह अभयहै, यह ब्रह्म है'।

---

*यह जो आंख में पुरुष दीखता है, इस से प्रजापति का अभिप्राय यह है, कि आंख अपने देखने के काम से जिस की हस्तीकी तर्फ इशारा करती है, वह आत्मा है। क्योंकि देखने वाली असल में आंख नहीं, आंख एक साधन है और वह देखने वाली शक्ति इससे अलग इसके अन्दर है, जो इस झरोके में बैठकर बाहर के दृश्य देखती है। उसके शिष्य इस अभिप्राय को नहीं पहुंचे हैं, वह आंख के अन्दर बैठकर उस देखने वाले को आत्मा नहीं समझे, किन्तु जो आंख के अन्दर पुरुष का आकार [छाया]दीखता है, उसी को आत्मा समझे हैं, और इस लिये आगे पूछते हैं, कि जो जल में और शीशे में दीखता है वह कौन है ? ॥

(उन्होंने पूछा) हे भगवन् ! यह जो जलों में दीखता है,
यह जो शीशे में दीखता है. यह कौनसा है
उसने उत्तर दिया, यह ही इन में दीखता है, * ॥ ४ ॥

आठवां खण्ड

'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानी
तन्मेप्रब्रूतमिति ' । तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ
जापतिरुवाच 'किंपश्यथ इति' । तौहोचतुः 'सर्व

दमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखे-
ः प्रतिरूपमिति' ॥ १ ॥ तौ ह प्रजापतिरुवाच 'सा
ऽलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामि
' । तौहसाध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदश
ऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच 'किंपश्यथ इति'
२ ॥ तौ होचतुः 'यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ
सनौ परिष्कृतौस्व एवमेवेमौभगवः साध्वलङ्कृतौ
सनौपरिष्कृताविति । एषआत्मेति होवाचैतदमृत

---

* आत्मा सब के अन्दर है, इस उच्च अभिप्राय से प्रजापति ने उत्तर
है। पर यहजानकर कि उसके शिष्यों ने पुरुष से शरीर को मम
, उनकाअज्ञान दिखलाने के लिये अगला उपदेश आरम्भ किया है॥

इसे पहल आत्मा की हस्ती को आंख में दिखलाने से प्रजापति
ह अभिप्राय है, कि वह अपने शिष्यों को पहले पहल जाग्रत में
की अलग हस्ती का निश्चय कराए॥

जिस आत्माको ढूंढकर पुरुष सारे लोकोंको और सारी कामनाओं को पालेता है' यह कहकर इन्द्र देवताओं में से और विरोचन असुरों में से गया। वह दोनों बिना एक दूसरे से सलाह किये (शिष्य के तौर पर) समिधा हाथ मेंलिये प्रजापति के पास आए।२।

वह वहां बत्तीस बरस ब्रह्मचारी बनकर रहे। तब प्रजापति नेउन्हें कहा'तुम दोनों किस प्रयोजनसे यहां रहेहो' उन दोनोंने उत्तर दिया 'आपके इस वचन का दुनियामें ढंढोरा फिर रहा है, 'कि आत्मा जो कि पाप सेअलग है,जरा और मृत्यु से परे है, शोक से परे है भूख और प्यास से अलग है, सच्ची कामनाओं वाला है और सच्चे संकल्पों वाला है, उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये। वह जो इस आत्मा को ढूंढकर जानलेता है, वह सारे लोकों को और सारी कामनाओं को पालेता है' सो हम दोनों उस (आत्मा) को चाहते हुए आपके पास रहे हैं ॥ ३ ॥

प्रजापति ने उन दोनों को कहा'यह जो आंख में पुरुष दीखता है,*यह वह आत्मा है, यह है जो मैंने कहा था, यह अमृत है, यह अभयहै, यह ब्रह्म है'।

*यह जो आंख में पुरुष दीखता है; इस से प्रजापति का अभिप्राय यह है, कि आंख अपने देखने के काम से जिस की हस्तीकी तर्फ इशारा करती है, वह आत्मा है। क्योंकि देखने वाली असलमें आंख नहीं, आंख एक साधन है और वह देखने वाली शक्ति इससे अलग इसके अन्दर है, जो इस झरोके में बैठकर बाहर के दृश्य देखती है। उसके शिष्य इस अभिप्राय को नहीं पहुंचे हैं, वह आंख के अन्दर बैठकर उस देखने वाले को आत्मा नहीं समझे, किन्तु जो आंख के अन्दर पुरुष का आकार [छाया] दीखता है, उसी को आत्मा समझे हैं, और इस लिये आगे पूछते हैं, कि जो जल में और शीशे में दीखता है वह कौन है ? ॥

। (उन्होंने पूछा) हे भगवन्! यह जो जलों में दीखता है, और यह जो शीशे में दीखता है, यह कौनसा है
उसने उत्तर दिया, यह ही इन में दीखता है, * ॥ ४ ॥

आठवां खण्ड

'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानी थस्तन्मेप्रब्रूतमिति'। तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते। तौ हप्रजापतिरुवाच 'किंपश्यथ इति'। तौहोचतुः 'सर्व मेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखे-भ्यः प्रतिरूपमिति'॥ १ ॥ तौ हप्रजापतिरुवाच 'सा ध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामि ते'। तौहसाध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदश रावेऽवेक्षाञ्चक्राते। तै ह प्रजापतिरुवाच 'किंपश्यथ इति' ॥ २ ॥ तौ होचतुः 'यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौस्व एवमेवेमौभगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौपरिष्कृताविति। एषआत्मेति होवाचैतदमृत

---

* आत्मा सब के अन्दर है, इस उच्च अभिप्राय से प्रजापति ने उत्तर दिया है। पर यह जानकर कि उसके शिष्यों ने पुरुष से शरीर ही सम झा है, उनका अज्ञान दिखलाने के लिये अगला उपदेश आरम्भ किया है॥

पहले पहल आत्मा की हस्ती को आंख में दिखलाने से प्रजापति का यह अभिप्राय है, कि वह अपने शिष्यों को पहले पहल जाग्रत में आत्मा की अलग हस्ती का निश्चय कराए॥

मभयमेतद्ब्रह्मेति'। तौहशान्तहृदयौप्रवव्रजतुः ॥ ३॥
तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच 'अनुपलभ्यात्मानमननु
विद्य व्रजतो यतरएतदुपनिषदोभविष्यन्ति देवा वा ऽसुरा
वा ते पराभविष्यन्तीति'। सहशान्तहृदयएव विरोचनो
ऽसुरान् जगाम। तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह
महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं
परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमञ्चामुञ्चेति ॥ ४ ॥ तस्मा
दप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो वते
ति'। असुराणा ५ ह्येषोपनिषत् प्रेतस्य शरीरं भिक्षया
वसनेनालङ्कारेणेति स ५ स्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जे-
ष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

पानी के प्याले में तुम दोनों आत्मा [अपने आप] को देखो, और जोकुछ तुम आत्मा [अपने आप] का नहीं समझे हो, वह मुझे बताओ' ॥

उन्हों ने पानी के प्याले में देखा। तब प्रजापति ने उन्हें कहा 'तुम क्या देखते हो'? ॥

उन्हों ने कहा हेभगवन्! हम यह पूराआत्मा को देखरहे है रोमों तक और नखोंतक-अपनी पूरी छाया ॥ १ ॥

प्रजापति ने उन्हें कहा अच्छेर भूषण और वस्त्र धारकर और अपने आप को साफ सुथरा करके [बाल और नख कटवाकर] फिर पानी के प्याले में देखो। उन दोनों ने अच्छे भूषण और

वस्त्र धारकर और अपने आप को साफ सुथरा बनाकर देखा। प्रजापति ने कहा 'क्या देखते हो'? ॥ २ ॥

उन्हों ने उत्तरदिया 'हेभगवन् ! जैसे हम यह अच्छे भूषण और वस्त्रधारणकिये हुए और साफ सुथरे हुए हुए हैं, इसीप्रकार हेभगवन् ! यह दोनों (हमारे आत्मा, अर्थात् प्रतिबिम्ब) अच्छेभूषण और वस्त्रधारणकिये हुए और साफ सुथरे हैं *। प्रजापति ने कहा 'यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है। तब वह दोनों प्रसन्नचित्त होकर चले गए ॥ ३ ॥

उनको देखकर प्रजापतिने कहा 'यह दोनों आत्मा को जाने और ढूंढे विना [ढूंढकर साक्षात् किये विना] जाते हैं, इन दोनों में से जो कोई देवता या असुर इस उपनिषद् [देह आत्मा है, इस सिद्धान्त) का अनुसरण करेंगे, वह नष्ट होजाएंगे॥

अब विरोचन तो वैसाही प्रसन्नचित्त हुआ असुरों के पास पहुंचा और उनको यह उपनिषद् उपदेशकी, कि आत्मा (देह) केवल यहां पूजा के योग्य है, और आत्मा (देह) सेवा के योग्य है। और वह जो यहां आत्मा (देह) को पूजता है और आत्मा

---

* वह दोनों छायाऽत्मा को आत्मा समझे थे, प्रजापति ने उनकी भ्रान्ति दूरकरने के लिये छायाऽत्मा की स्थिति देह के आश्रित दिखलाई, तथापि उनकी भ्रान्ति दूर न हुई, इसलिये प्रजापति ने फिर अपने अभिप्रेत आत्मा को मन में रखकर 'यह आत्मा है' इत्यादि उसका स्वरूप कह दिया, जिससे छाया वा देह का आत्मा न होना उनको प्रतीत हो जाए, तब भी वह नहीं समझे, और सन्तुष्ट होकर चलदिये ॥

(देह) की सेवा करता है, वह दोनों लोकों को लाभकरता है, इस (लोक) को और उस (लोक) को ॥ ४ ॥

इसलिये अब भी जो यहां न दानदेता है, न श्रद्धारखता है, न यज्ञ करता है, उसे लोग कहते है, कि यह असुर है। क्योंकि यह असुरों की उपनिषद् (आत्मविषयकसिद्धान्त) है। वह मृतक के शरीर को गन्धमाला आदि से, वस्त्रों से और भूषणों से सजाते हैं, और वह ख्याल करते हैं, कि इस प्रकार हम उसलोक को जीतेंगे।५।

नवां खण्ड

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। यथैव खल्व यमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुव सने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः, एवमेवायमस्मिन्नन्धे ऽन्धोभवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरी रस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्रभोग्यंपश्यामीति॥१॥ स समित्पाणिः पुनरेयाय। त ँ प्रजापतिरुवाच 'मघव-न् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्द्धं विरोचनेन, किमिच्छ-न् पुनरागम इति'। सहोवाच 'यथैवखल्वयं भगवो ऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतोभवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः, एवमेवायमस्मिन्नन्धे ऽन्धोभवति स्रामेस्रामः परिवृक्णे परिवृक्णो ऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्रभोग्यंपश्यामी ति॥२॥ एवमेवैषमघवन्निति होवाचैतंत्वेव तेभूयो ऽनु

व्याख्यास्यामि, वसापराणि द्वात्रिं शतं वर्षाणीति'। सहापराणि द्वात्रिंशतंवर्षाण्युवास । तस्मैहोवाच।३।

पर इन्द्र ने देवताओं के पास पहुचने से पहले ही यह भय (दिक्कत) देखा, कि जैसे यह (छाया जो पानी में है *) अच्छे भूषणों वाला होजाता है, जब शरीर अच्छे भूषणों वाला होता है, अच्छे वस्त्रोंवाला होजाता है, जब शरीर अच्छे वस्त्रोंवाला होता है, अच्छा साफ सुथरा होता है, जब शरीर अच्छा साफ सुथरा होता है, इसीप्रकार शरीरके अन्धाहोनेसे यह अन्धाहोजाता है, काना होने से काना होता है, लूला लंगड़ा होने से लूला लगड़ा होता है। सो मैं इस (सिद्धन्त) में कोई भलाई (भोग्य, अच्छाफल) नहीं देखता ॥ १ ॥

(यह जान शिष्य के तौरपर) वह समिधा हाथ में लेकर फिर प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने उसे कहा 'मघवन् (इन्द्र) तुम शान्तहृदय होकर विरोचन के साथ चलेगए थे, किस प्रयोजन के लिये तुम फिर वापिस आए हो'? ॥

उसने कहा 'हेभगवन् ! जिसतरह पर यह (छाया) अच्छे भूषणोंवाला होजाता है, जब शरीर अच्छे भूषणों वाला होता है। अच्छे वस्त्रोंवाला होजाता है, जब शरीर अच्छे वस्त्रों वाला होता है। और अच्छा साफ सुथरा होता है, जब शरीर अच्छा साफ सुथरा होता है। पर इसीप्रकार इस शरीर के अन्धा होनेपर यह (छाया)

---

* यद्यपि प्रजापति का असली अभिप्राय समझने में भ्रान्ति दोनों को हुई है। पर विरोचन ने यह समझा, किप्रजापति ने शरीर को आत्मा बतलाया है, और इन्द्रने यह समझा कि शरीर की छाया को आत्मा बतलाया है (शंकराचार्य)॥

अन्धा होता है, काना होनेपर काना होता है, लूला लंगड़ा होनेपर लूला लंगड़ा होता है। और इस शरीर के नाश होने पर यह नाश होजाता है। सो मैं इस (सिद्धान्त) में कोई भलाई नहीं देखता'॥ २॥

उसने उत्तर दिया 'निःसंदेह यह ऐसेही है हे मघवन्! (तूने ठीक समझा है, क्योंकि छाया आत्मा नहीं है), पर मैं तुझे उसी (असली आत्मा) का फिर व्याख्यान करूंगा (जिसका व्याख्यान पहले करचुका हूं, तुम जो उसे नहीं समझे, सो तुम्हारे अन्तः करण पर अभी कोई मैल है, पहले उसके दूरकरने के लिये) और बत्तीस बरस मेरे पास (ब्रह्मचर्य) वास करो'॥

'उसने और बत्तीस बरस उसके पास वास किया, तब उसे प्रजापति ने कहा॥ ३॥

दसवां खण्ड

'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति' होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति'। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श। तद् यद्यपीद ँ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति। यदि स्राममस्रामो, नैवैषोऽस्यदोषेण दुष्यति॥ १॥ न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येणस्रामः। घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छाययन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपिरोदितीव। नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥ स समित्पाणिः पुनरेयाय। त ँ ह प्रजापतिरुवाच। 'मघवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः, किमिच्छन् पुनरागमइति'। स होवाच। 'तद्

यद्यपीद ७, शरीरमन्धं भगवत्यनन्धः स भवति, यदि स्रा
मस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥ न वधेना
स्यहन्यते नास्य स्राम्येण स्रामः । घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छाय-
यन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव । नाहमत्र भोग्यं
पश्यामीति'। 'एवमेवैष मघवन्निति' होवाच । एतं
तेभूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसापराणि द्वात्रि ५ शतं
णीति' । सहापराणि द्वात्रि ५ शतं वर्षाण्युवास । त
होवाच ॥ ४ ॥

यह जो स्वप्न में महिमा अनुभव करता हुआ विचरता है,
आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है ॥

तब इन्द्र शान्तहृदय होकर चलागया । पर देवताओं के पा
पहुंचने से पहले ही उसने यह भय देखा । कि यद्यपि यह ठीक है
कि यह शरीर यदि अन्धा भी होजाए, तो वह (स्वप्न द्रष्टा आत्मा)
अन्धा नहीं होता, यदि यह काना हो, तो वह काना नहीं, होता ।
न इसके दोष से वह दूषित होता है, ॥ १ ॥

न इसके वध से वह मरता है, न इसके काना होने से यह काना
होता है । तथापि इसको मानो मारते हैं, और भगाते हैं (इसका पीछा
करते हैं) यह मानों अप्रिय देखता है और रोता है * । इसलिये
मैं इस (सिद्धान्त) में कोई अच्छा फल नहीं देखता ॥ २ ॥

---

*यद्यपि न कोई उसे मारता है, न भगाता है, न यह अप्रिय देखता
है, और न रोता है, तथापि स्वप्न समय में वैसा ही यह देखता है,
इसलिये 'इवान्मानो' कहा है प्रजापतिने स्वप्न के द्रष्टा को आत्मा
बतलाने से देहात्मा, की भ्रान्ति को दूर कर दिया है ॥

औ वह समिधा हाथ में लेकर फिर वापिस आया, उसे प्रजापतिने कहा 'मघवन्! तुम शान्तहृदय होकर चले गए थे, किस प्रयोजनके लिये फिर वापिस आए हो, ?

इसने कहा 'भगवन् यद्यपि यह ठीक है, कि यह शरीर अन्धा होजा, तो वह अन्धा नहीं होता, यदि यह काना हो जाए, तो वह का नहीं होता। न यह इसके दोष से दूषित होता है ॥ ३ ॥

न इसके वधसे मरता है। न इसके काना होने से काना होता तथापि मानों इसको मारते हैं और भगाते हैं। और यह मानों य देखता है और रोता है। सो मैं इसमें कोई अच्छा फल देखता ॥

प्रजापति ने कहा 'निःसंदेह यह ऐसे ही है हे मघवन्! पर मैं इसीको फिर व्याख्यान करूंगा, अभी और बत्तीस वरस मेरे पास ब्रह्मचर्य वासकरो। उसने और बत्तीस वरस वास किया। तब उसके लिये प्रजापति ने उपदेश दिया ॥ ४ ॥

ग्यारहवां खण्ड

'तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति' होवाच 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति'। सह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श। नाहखल्वयमेव ँ सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति, नो एवेमानि भूतानि, विनाश मेवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥ स समित्पाणिः पुनरेयाय। त ँ ह प्रजापतिरुवाच 'मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति'

सहोवाच 'नाहखल्वयं भगव एव ँ सम्प्रत्यात्मानं जा-
त्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवापी-
भवति। नाहमत्रभोग्यं पश्यामीति ॥२॥ 'एवमेवैष म-
घवन्निति' होवाच 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि
एवान्यत्रैतस्माद्, वसापराणि पञ्च वर्षाणीति'। स
वर्षाण्युवास। तान्येकशत ँ संपेदुरेतत् तद्यदाहुरे
ँ हवै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवा
तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

जब यह सोया हुआ, आराम करता हुआ सम्प्रसन्न [
चल से रहित, पूरे आराम में] हुआ, स्वप्न को नहीं देखत
यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, ब्रह्म है * ॥

तब इन्द्र शान्तहृदय होकर चलागया। पर देवताओं के पा
पहुंचने से पहिले ही उसने यह भय देखा। कि यह [सुषुप्तावस्थ
का आत्मा] अपने आप को भी इस प्रकार ठीक २ नहीं
जानता है, कि यह मैं हूं। और न ही इन भूतों को [जानता है
जैसा कि जाग्रत और स्वप्न में जानता है] मानो विनाश में ही
लीन हुआ [विनष्ट हुआ सा] होता है। मैं इस (सिद्धांत) में कोई
अच्छा फल नहीं देखता ॥ १ ॥

तब वह समिधा हाथ में लेकर फिर वापिस आया, उसको प्रजा-
पति ने कहा' मघवन् तुम शान्तहृदय होकर चले गए थे, किस प्रयो-
जन के लिये फिर वापिस आए हो'!

* देखो छान्दो० उप० ८। ६। ३

उसने कहा 'हे भगवन्! यह उस समय अपने आप को भी इस ठीक २ नहीं जानता है, कि यह मैं हूं, और न ही इन भूतों को जानता है, मानों विनष्ट हुआ सा होता है। मैं इस में कोई अच्छा फल नहीं देखता हूं ॥ २ ॥

प्रजापति ने उत्तर दिया "निःसंदेह हे मघवन्! यह ऐसे ही है' इसी का*मुझे फिर व्याख्यान करूंगा, इससे भिन्न यह नहीं है। और पांच बरस यहां वास करो ॥

उसने और पांच बरस वास किया। सो यह एक सौ एक [३२+३२+३२+५=१०१] बरस हुए। जो, यह कहा करते हैं, कि इन्द्र ने प्रजापति के पास एक सौ एक बरस ब्रह्मचर्यवास किया। तब प्रजापति ने उसको उपदेश दिया ॥ ३ ॥

बारहवां खण्ड

मघवन् मर्त्यं वा इद ँ शरीरमात्तं मृत्युना। तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्। आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥ अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि। तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

---

† जिस आत्मा का पहले जाग्रत् में उपदेश दिया है, उसीका फिर स्वप्न में, फिर सुषुप्ति में। और अब उसी आत्मा का तीनों अवस्थाओं से अलग हुए का स्वरूप वर्णन करेंगे ॥

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥ अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥ अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः। स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥ य एते ब्रह्मलोके। तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात् तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः। स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीतिह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

* मघवन् ! यह शरीर मर्त्य [मरने वाला] है, जो मृत्यु मे

---

* जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा को स शरीर दिखलाकर अब अपने निजरूप में आत्मा का स्वरूप दिखलाते

पकड़ा [ग्रसा] हुआ है । यह इस अमर और अशरीर आत्मा का अधिष्ठान [रहने की जगह] है। जबतक यह सशरीर है [शरीर के साथ एक होरहा है, शरीर में आत्माऽभिमान रखता है] यह प्रिय और अप्रिय [हर्ष शोक] से पकड़ा [ग्रसा] हुआ है । जबतक यह सशरीर है, तब तक प्रिय और अप्रिय का विनाश नहीं होता है । पर जब यह अशरीर होता है [शरीर से अपने आप को अलग समझता है] तब इसको प्रिय और अप्रिय नहीं छूते हैं* ॥१॥

अशरीर है वायु, मेघ, बिजली और गर्जना, यह विना शरीर के [विना हाथ पाओं आदिके] हैं, जैसे यह उस आकाश से उठकर परमज्योति को प्राप्त होकर अपने असली रूप से प्रगट होते है ॥२॥

इसी प्रकार यह सम्प्रसाद [निर्मलहुआ आत्मा] इस शरीर से उठ कर परमज्योति को प्राप्त होकर अपने असली रूप से प्रगट होता है † यह [इस अवस्था में] उत्तम पुरुष है । वह

हैं, और प्रसंग से यह दिखलाते हैं, कि सुख दु:ख और विनाश आदि के सारे भय सशरीरता में हैं, अशरीर आत्मा इनसे ऊपर है ॥

* दुनिया के हर्ष शोक उसको नहीं छूते, किन्तु ब्रह्मानन्द को तो वह उप भोग करता ही है ॥

† यहां परमज्योति से एक जगह सूर्य की गर्मी अभिप्रेत है, और दूसरी जगह परब्रह्म । वायु जब चल नहींरहा, तो वह आकाश में आकाश के साथ इसतरह एक होरहा है, जैसे शरीर में शरीर के साथ आत्मा । इसी प्रकार बादल, बिजली और गर्ज भी आकाश में लीन हुए हुए हैं । सूर्य की गर्मी पाकर वायु अपने असली रूप को धारणकर बहनेलगता है, बादल प्रगट होते हैं, बिजली चमकती है और गर्जना प्रगट होती है । इसीप्रकार यह आत्मा जो स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर में छिपा हुआ है, यह परब्रह्म को पाकर अपने असलीरूप में प्रगट होता है । आत्मा के पक्ष में परमज्योति का अर्थ कई व्याख्याताओं ने ब्रह्मविद्याभी लिया है ॥

इस शरीरको जिसमें वह जन्माथा स्मरण न करता हुआ, वहां स्त्रियों के यानोंके वा ज्ञातियोंके साथ हंसता (वा खाता) खेलता और आनन्द भोगता हुआ विचरता है*। जैसे घोडा रथमें जुड़ा हुआ होता है, इसी प्रकार इस शरीर में यह प्राण [प्रज्ञात्मा] जुड़ा हुआ है†॥ ३ ॥

जहां यह आकाश [आंख के छेद] में नेत्र जड़ा हुआ है, वहां वह चाक्षुष [नेत्र का] पुरुष है, नेत्र उसके देखने के लिये है, [देखने का साधन है] और जो यह जानता है, कि मैं इसे सूंघूं, वह आत्मा है, और घ्राण गन्धग्रहण करने का साधन है, और जो यह जानता है, कि मैं यह बोलूं, वह आत्मा है और वाणी बोलने का साधन है। और जो यह जानता है, कि मैं यह सुनूं, वह आत्मा है, श्रोत्र सुनने का साधन है ॥ ४ ॥

जो यह जानता है, कि मैं इसे ख्याल करूं, वह आत्मा है, मन उसका दैवनेत्र [दिव्यदृष्टि] है ‡। वह इस दैवनेत्र-मन से इन कामनाओं को देखता हुआ आनन्द भोगता है ॥ ५ ॥

जो यह ब्रह्मलोक में है। देवता इस आत्मा को उपासते हैं, इस लिये सारे लोक और सारी कामनाएं उनके वश में हैं वह जो इस आत्मा को ढूंढ कर जानलेता है, वह सारे लोकों और सारी कामनाओं को प्राप्त होता है, यह प्रजापतिने कहा, हां, प्रजापतिने कहा ॥ ६ ॥

---

* यह आन्द उसे ब्रह्मलोक में होते हैं जो मानस हैं ॥

† जिसतरह रथका चलानेवाला घोड़ा रथ से अलग है, इसी प्रकार इस शरीर का चलानेवाला प्रज्ञात्मा इससे अलग है ॥

‡ मन दिव्य दृष्टि इसलिये है, कि इससे आत्मा केवल वर्तमान स्थूल और व्यवधान रहित को ही नहीं देखता, किन्तु भूत भविष्यत, सूक्ष्म, दूरस्थित और ओट में स्थित को भी देखलेता है ॥

तेरहवां खण्ड

श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्वइव रोमाणि विधूय पापं चन्द्रइवराहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरम कृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभि संभवामीति ॥ १ ॥

मै श्याम (हृदयस्थ ब्रह्म] से शवल [ब्रह्म लोक] को प्राप्त होता हूं। शवल से श्याम को प्राप्त होता हूं *। घोड़ा जैसे रोमों को झाड़ता है इस प्रकार पापों को झाड़कर, चन्द्र जैसे राहु के मुख में [छूटता है] इसतरह छुटकर, शरीर को झाड़कर [देहाभिमान छोड़कर] कृतार्थहुआ अब मैं अकृत (अकार्य) ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हू, हां, प्राप्तहोता हूं ॥

चौदहवां खण्ड

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳस आत्मा । प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, यशोऽहं भवामि ब्रह्मणानां यशोराज्ञां यशोविशाम् । यशोऽहमनु प्रापत्सि सहाहं यशसां यशः । श्येतमदत्कमदत्कꣳ श्येतं लिन्दुमाभिगां लिन्दु माभिगाम् ॥१॥

---

* पर और अपर ब्रह्मको श्याम और शबल नाम से वर्णन किया है। श्याम, कालावर्ण और शबल, चितकबरा। ब्रह्मका शुद्ध स्वरूप मन वाणी से परे है, वह अज्ञेय है, उस पर अन्धेरा है, इसलिये वह श्याम है। और शबल के धर्म सापेक्ष है (बाहर के पदार्थों की अपेक्षा स है) इसलिये उसका यह स्वरूप दोरंगा कहा है

आकाश * है जो सारे नाम और रूप का निर्वाह करनेवाला है। वह दोनों (नाम और रूप) जिसके मध्य में है, वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है। मैं प्रजापति की सभा † को, घर को, प्राप्त होता हूं; मैं ब्राह्मणों में से यशरूप होता हूं, क्षत्रियों में से यशरूप, वैश्यों में से यशरूप होता हूं। मैंने उस यश को पालिया है, मैं यशों का यश हूं। मैं उस श्वेत को, जिसको कोई दान्त नहीं तथापि खानेवाला है, ऐसे श्वेत घर को प्राप्त न होउं ‡, हां (इस) घर को प्राप्त न होउं ॥

पन्द्रहवां खण्ड

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः। स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

यह (आत्मज्ञान) ब्रह्मा ने प्रजापति को बतलाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने प्रजाओं को § (इस प्रकार सम्प्रदाय की परम्परा

---

* आकाश यहां ब्रह्म का नाम है, क्योंकि वह आकाश की नाईं अशरीर है और परमसूक्ष्म है ॥

† प्रजापति की सभा, प्रभुविमित हिरण्मय (देखो पूर्व ८। ५। ३)

‡ श्येतं = वर्णतः पक्वबदरसमं रोहितम्। तथा अदत्कं = दन्तरहितमपि अदत्कं = भक्षयितृ = स्त्रीव्यञ्जनं (योनि शब्दितं प्रजननेन्द्रियमित्यर्थः)=तत्सेविनां तेजो बलवीर्यविज्ञानधर्माणामपहन्तृ = विनाशयितृ इत्येतत्। यदेवं भक्षणं इति लिन्दु = पिच्छलं, तदाऽभिगच्छेयम्। (शंकराचार्य)

§ प्रजापति = कश्यप। और मनु, कश्यप का पुत्र (शंकराचार्य)

से आया हुआ यह उपनिषद्विज्ञान अब तक सुरक्षित है) । चाहिये कि आचार्यकुल में जाकर, गुरु की ओर जो उस का कर्तव्य है उसको पूरा करता हुआ बाकी बचे हुए समय में यथाविधि वेद को पढ़े। फिर समावर्तन होने के पीछे कुटुम्ब में स्थिर हो कर शुद्ध देश में स्वाध्याय पढ़ता हुआ और (पुत्र तथा शिष्यों को) धार्मिक बनाता हुआ अपने सारे इन्द्रियों को आत्मा (हार्दब्रह्म) में लीन करके सिवाय तीर्थों के *किसी भी प्राणी को पीडा न देवे। वह जो आयुभर ऐसा वर्तता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, और फिर वापिस नहीं आता है, हां, फिर वापिस नहीं आता है† ॥ १ ॥

छान्दोग्य उपनिषद् का शान्ति पाठ—ओं० आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मामाब्रह्मनिराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥

॥ समाप्तेयं छान्दोग्योपनिषत् ॥

॥ ओं तत्सत् ॥

---

* भिक्षा के निमित्त घूमने आदि से भी प्राणियों को पीड़ा होसक्ती है, इसलिये कहा है सिवाय तीर्थों के। तीर्थ अर्थात् जिस विषय में शास्त्र अनुज्ञा देता है, उस के सिवाय (शंकराचार्य)

† अर्थात् शरीरग्रहण करने के लिये फिर वापिस नहीं आता। (चन्द्र लोक से जैसे पुनरावृत्ति होती है, उसकी नाईं) ब्रह्मलोक से भी प्राप्त हुई जो पुनरावृत्ति है, उसका यह निषेध है। अर्थात् अर्चिरादि मार्ग से कार्यब्रह्मलोक को प्राप्त होकर जबतक ब्रह्मलोक की स्थिति है तबतक वहीं रहता है, उससे पहले (अर्थात् महाप्रलय से पहले) वापिस नहीं आता है, यह अभिप्राय है (शंकराचार्य) ॥

छान्दोग्य उपनिषद् के प्रवाकों की वर्णानुक्रमणिका।

खंडविभागाद्यपदानि, अध्यायादीनो

खंडविभागाद्यपदानि. अध्यायादीनी

खण्डविभागाद्यपदानि अध्यायादीनि